Bachelor of Arts

POLS-202

Indian Political Thinkers

(Option-II)

Directorate of Distance Education
Guru Jambheshwar University of Science & Technology, HISAR-125001

CONTENTS

पाठ संख्या	पाठ का नाम	पृष्ठ संख्या
1	राजा राममोहन राय	4
2	स्वामी विवेकानंद	
3	स्वामी दयानन्द	
4	अरविन्द घोष	
5	श्री बालगंगाधर तिलक	
6	गोपाल कृष्ण गोखले	

Downloaded by: Ms. Meena Rani , H.O. (DE), GJUST, Hisar

Organized by : Dr. Shakuntla Devi, Prog. Coordinator (BA)

ACKNOWLEDGEMENT

As we know that SWAYAM (http://swayam.gov.in) is India's National MOOC Platform. It has been designed to achieve the 3 cardinal principles of Educational Policy of India (NPE) i.e. Access, Equity and Quality since very earlier to attain.

It is only in reference to cover a number of Courses related to School/ Vocational, Under-graduate, Post-graduate, Engineering and other professional Courses.

In a recent move, the UGC (University Grant Commission) has given the relaxation to institutions to allow upto 40% of the total courses in a particular Programme per semester to be offered via SWAYAM, which is world's Largest Online Free E-learning Platform Portal.

Therefore, efforts are made to frame SLM (Self Learning Material) for Political Science i.e. POLS 202 from only recommended Portal/Sources only to provide an easy and quick study material as per rule.

Therefore, it is directed to the concerned students that go through your allocated syllabus and be prepare while choosing the content as per given guidelines please.

I am very grateful to Mrs. Meena Rani, Hindi Officer who has made efforts to assess and shape into requisite SLM as required content as per syllabus.

Regards,

Programme Coordinator (BA)

Dr. Shakuntla Devi

MA (Sociology), M.Ed., Ph.D. (Education)

इकाई 4 राजा राममोहन राय

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 धार्मिक सुधारक के रूप में राय
  4.2.1 राय पर पड़ने वाले प्रभाव
  4.2.2 हिन्दुत्व की पुनर्विवेचना
4.3 समाज सुधारक के रूप में राय
  4.3.1 जाति व्यवस्था पर
  4.3.2 महिलाओं के अधिकारों पर
  4.3.3 सती प्रथा पर
4.4 राय की राजनीतिक उदारवादिता
  4.4.1 स्वतंत्रता पर
  4.4.2 व्यक्ति के अधिकारों पर
  4.4.3 कानून और न्यायिक प्रशासन पर
  4.4.4 राज्य की कार्यवाही के क्षेत्र पर
  4.4.5 शिक्षा पर
  4.4.6 अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व पर
4.5 सारांश
4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजा राममोहन राय के राजनीतिक सोच की चर्चा की गयी है। वह 19वीं सदी के भारत के प्रमुख धार्मिक और समाज सुधारक थे। वह भारतीय राजनीतिक सोच की उदारवादी परम्परा के संस्थापक थे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो पायेंगे कि आप:

- आधुनिक भारत के निर्माण में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की भूमिका के गुण-दोषों की परख कर सकें,
- राय ने क्रूर और बर्बर सामाजिक प्रथाओं के खिलाफ जो अभियान छेड़ा उसे समझ सकें, और
- आधुनिक भारतीय राजनीतिक सोच को आकार देने में उदारवाद के अर्थ और महत्व को समझा सकें।

4.1 प्रस्तावना

राजा राममोहन राय (1772-1833) आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक थे। उन्हें आमतौर पर "आधुनिक भारत का जनक" कहा जाता है। उनका दृष्टिकोण आधुनिक होते हुए भी वह हमेशा आधुनिकता को परंपरा के साथ जोड़ने की कोशिश करते थे। उनकी कोशिश यह रहती थी कि पश्चिमी और पूर्वी दर्शन की धर्मनिरपेक्षता और अध्यात्मवाद का रचनात्मक संयोजन किया जाये। धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था। वह दुनिया के तमाम मुख्य धर्मों की सबसे अच्छी बातों को मिलाकर एक सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा पेश करना चाहते थे।

4.2 धार्मिक सुधारक के रूप में राय

धर्म की समीक्षा और पुनर्मूल्यांकन राय की चिंता का सबसे प्रमुख विषय था। उनका यह मत था कि धर्म के क्षेत्र में बौद्धिकता से और आधुनिकता को लाया जाना चाहिए, और "बौद्धिकता से निहीन धर्म" कई सामाजिक बुराइयों की जड़ था। उनके अनुसार इस देश की राजनीतिक प्रगति मुख्य तौर पर धार्मिक सोच और व्यवहार में सफल क्रांति पर निर्भर थी। उनकी दिलचस्पी न केवल हिन्दू धर्म में सुधार करने में थी, बल्कि उन्होंने दुनिया के विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले अंतर्विरोधों को खत्म करने की भी कोशिश की। उन्होंने तुलनात्मक धर्मों का गंभीर अध्ययन किया और उन्होंने इस बात को महसूस किया कि सच्चा हिन्दुत्व, सच्चा इस्लाम और सच्ची ईसाइयत बुनियादी तौर पर एक दूसरे से अलग नहीं हैं। उनकी आशा थी कि तमाम धर्मों को सबसे अच्छी बातों को मिलाकर मानव जाति के लिए सार्वभौमिक धर्म की इस अवधारणा का अर्थ न केवल धार्मिक सहिष्णुता थी, बल्कि यह भी कि अलग-अलग धर्मों की दीवारों के पार इसे रखा जाये।

इस तरह से, राय ने एक आध्यात्मिक संश्लेषण की कोशिश की, जिसमें उन्होंने तमाम धर्मों के अनुभव की एकता पर जोर दिया। वह एक पक्के ईश्वरवादी हो गये। 19वीं शताब्दी में उन्होंने ब्रह्मो समाज की स्थापना की। समाज ने धार्मिक और दार्शनिक चिंतन और चर्चा के मंच का काम किया। राय की धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास की आलोचना ने सभी सगठित धर्मों के पुरोहित वर्गों को उनके खिलाफ कर दिया। लेकिन समय ने निसंदेह राय के सोच और कार्यों की प्रासंगिकता को सिद्ध कर दिया है।

4.2.1 राय पर पड़ने वाले प्रभाव

बंगला और संस्कृत के अलावा राय ने अरबी, फारसी, इब्रानी, यूनानी लातीनी और दुनिया में बोली जाने वाली 17 और प्रमुख भाषाओं में महारत हासिल कर ली थी। ऐसी अलग-अलग किस्म की भाषाएँ जानने के कारण राय का पश्चिम के विभिन्न किस्म के सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक अनुभवों से हुआ। उन्होंने इस्लाम का गहरा अध्ययन किया। सामान्य तौर पर अरबी साहित्य और विशेष तौर पर, मुताजिल की बौद्धिकता और तार्किक सुसंगति ने राय को बहुत प्रभावित किया। सादी और हाफिज़ जैसे सूफी कवियों ने उनके मन पर काफी प्रभाव डाला। क़ुरान की तौहीद या ईश्वर की एकता की अवधारणा ने राय को चमत्कृत किया।

इस तरह, इस संदर्भ में, जब राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों और प्रथाओं पर गौर किया तो उन्हें बहुत तकलीफ हुई। उन्हें बहु-ईश्वरवाद, मूर्ति पूजा और बौद्धिकता से विहीन अंधविश्वास बिल्कुल असहनीय लगे। उन्होंने इन सदियों पुरानी बुराइयों से जूझने का निश्चय किया।

संस्कृत के विद्वान होने के नाते, राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था, और वहीं से उन्हें रूढ़ीवादी हिन्दू धर्म को उसके पुरातनपंथी तत्वों से मुक्त करने की प्रेरणा मिली।

राय ने बौद्ध धर्म के उपदेशों का भी अध्ययन किया था कहा जाता है कि अपनी सभाओं के दौरान वह तिब्बत पहुंचे उन्हें यह देख कर तकलीफ हुई कि किस तरह से बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का घोर उल्लंघन हो रहा था और भगवान बुद्ध के धर्म वर्जित मूर्ति पूजा को स्वीकार कर लिया गया था। उन्होंने इन प्रथाओं का जम कर विरोध किया।

राजस्व विभाग में दीवान की हैसियत से जब राजा राममोहन राय को रंगपुर जाने का संयोग प्राप्त हुआ तो, उन्हें तांत्रिक साहित्य और जैनियों के कल्पसूत्रों और दूसरे ग्रंथों को पढ़ने का मौका मिला। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी महारत हासिल कर ली, और इंग्लैंड और यूरोप के बुद्धिवाद और विमोचन जैसे विचारों एवं राजनीतिक घटनाओं से अपने आपको परिचित कराया। अंग्रेजी के ज्ञान से राय को न केवल अंग्रेजों से सम्पर्क बनाने में सुविधा हुई, बल्कि उनके लिये एक पूरी नयी दुनिया के द्वार खुल गए। राय के ही शब्दों में, उन्होंने अब अंग्रेजों के प्रति अपने शुरुआती पूर्वाग्रहों को छोड़ दिया और यह महसूस किया कि अज्ञानी और अंधविश्वासी जन साधारण की दशा सुधारने के लिये इन प्रबुद्ध शासकों की मदद लेना कहीं अच्छा होगा। वह अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज के जबरदस्त हिमायती हो गये।

राय के मन में वेदांत और कुरान की तरह बाईबिल के लिए भी प्रशंसा का भाव था। उनके अनेक आलोचकों का सोचना था कि राय के ब्रह्मों समाज के दो प्रमुख सिद्धांत, मूर्ति पूजा का विरोध और सामूहिक प्रार्थना की रीति, ईसाई धर्म से ही लिये गये थे। राय पर यह आरोप लगाया गया कि वह परोक्ष रूप में हिंदुस्तान का ईसाईकरण कर रहे थे। यह सही है कि राय ने भारतीयों को ईसा के उपदेशों का पालन करने का सुझाव दिया। राय ने खुद स्वीकार किया कि, "मेरी जानकारी में जितने धर्म सिद्धांत हैं, उनमें से ईसा के सिद्धांतों को मैंने नैतिकता में कहीं अनुरूप और बौद्धिक जन के लिये अधिक अनुकूल पाया है।" उन्होंने ईसा के सिद्धांतों को एकत्र कर के यह भी प्रमाणित करने की कोशिश की कि ईसा के उपदेशों को बौद्धिक जन के उपयोग के लिये किस तरह बेहतर ढंग से अपनाया जा सकता है। साथ ही, यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि वह ईसाई धर्म के अंध भक्त नहीं थे। उन्होंने ईसा के दिव्यता के सिद्धांत को इस तर्क के साथ अस्वीकार कर दिया कि अगर ईसा दिव्य हैं तो, राम भी दिव्य हैं। उन्होंने मिश्नरियों द्वारा प्रचारित "पिता-पुत्र पवित्रता" के सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि राय पर हिन्दू धर्म के ईसाईकरण का आरोप लगाना गलत है। बल्कि राय की उत्कंठ इच्छा तो हिन्दू धर्म के पवित्र और सार्वभौम स्वरूप को फिर से उभारने की थी। उन्होंने जाति, मूर्ति पूजा और अंधविश्वासी रीतियों और कर्मकांडों को खारिज करने वाले अद्वैत दर्शन की हिमायत की।

इस तरह, राय एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने धर्मों के संकीर्ण विभाजनों को पीछे छोड़ दिया। उन्होंने हिन्दुत्व, ईसाई धर्म और इस्लाम के सबसे महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक तत्वों को गले लगाया।

4.2.2 हिन्दुत्व की पुनर्विवेचना

राय ने अपनी तमाम हिन्दू समाज में व्याप्त अनेकीश्वरवाद मूर्ति पूजा और अंधविश्वासों जैसी मध्य युगीन प्रवृत्तियों से जूझने में लगा दी। उनका अटूट विश्वास अद्वैतदर्शन में था, जिसमें इस तरह की प्रवृत्तियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। राय को पूरा विश्वास था कि जब तक हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक बदलाव नहीं होता, वह राजनीतिक प्रगति के काबिल नहीं होगा। उनके अनुसार, उस समय हिन्दुओं में जो धर्म-व्यवस्था व्याप्त थी, उसके रहते हिन्दुओं के राजनीतिक हितों को आगे बढ़ाना मुश्किल था। राय का तर्क था कि हिन्दुओं में जो ढेरों धार्मिक रीतियाँ और अनुष्ठान थे और जाति के अस्वाभाविक भेदभाव और शुद्धीकरण के नियम थे, उनके कारण हिन्दू किसी भी किस्म की समान राजनीतिक भावना से वंचित रह गये थे। हिन्दुओं के लिए वह जरूरी था कि वे कम से कम अपने राजनीतिक लाभ और सामाजिक सुविधा के लिए ही अपने धर्म में कुछ बदलावों को स्वीकार कर लें। इस तरह, राय के लिये हिन्दुत्व की पूर्ण विवेचना सामाजिक-राजनीतिक सुधार के कार्यक्रम का प्रस्थान बिंदु था। राय की कोशिश आध्यात्मिक जीवन के गहन अनुभवों को सामाजिक जनवाद के बुनियादी सिद्धांत से मिलाने की थी। वह तमाम अंधविश्वासों और उन पर आधारित कुरीतियों की भर्त्सना करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि अर्से से चली आ रही ये पारम्परिक प्रथाएँ वास्तव में उनके धर्म का आधार बिंदु नहीं थी। उनके लिये, इस शुद्धता की सच्चाई तो यह थी कि हिन्दू धर्म ग्रंथों में इनके लिये कोई स्थान या समर्थन नहीं था। राय अपने देशवासियों का ध्यान उनके धर्म की प्राचीन शुद्धता की ओर आकृष्ट करना चाहते थे। उनके लिये, इस शुद्धता का बिम्ब वेदों और उपनिषदों में मिलता है।

शुद्ध हिन्दू धर्म में अंधविश्वास और अंधविश्वासी मान्यताओं और प्रथाओं की शुद्ध हिन्दू धर्म में कोई बुनियाद नहीं थी, यह सिद्ध करने के लिए राय ने उपनिषदों के बंगाली और अंग्रेजी में अनुवाद का कठिन काम हाथ में लिया। उन्होंने इन अनुवादों के साथ विस्तार से टिप्पणियाँ भी दीं और उन्हें लोगों में मुफ्त बाँटा।

जब राय 16 साल के थे, तो उन्होंने मूर्ति पूजा की वैधता को चुनौती देते हुए एक किताब लिखी। उनके अनुसार, मूर्ति पूजा कई और सामाजिक बुराइयों का मूल कारण थी। इससे अनेक देवी-देवताओं और पूजा के अनेक तरीकों को जन्म मिलता था। इसके कारण समाज ऐसी असंख्य जातियों और समूहों में बँट गया था, जो एक दूसरे से भिन्न-भिन्न मूर्तियों की पूजा में लगे थे। विभाजन और उप-विभाजन की इस प्रक्रिया का कोई अंत नहीं था। राय मूर्ति पूजा को तार्किकता और सामान्य बोध के खिलाफ मानते थे। इसके अलावा, इसे

प्राचीन धर्म ग्रंथों में कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। राय ने ब्रह्म समाज के मंच से एकेश्वरवाद और सामूहिक प्रार्थना का प्रचार किया।

राय ने इन अंधविश्वासों के खिलाफ संघर्ष किया, जो हिन्दू समाज में कई अमानवीय और क्रूर प्रथाओं और परंपराओं को जन्म देने का कारण बने। उन्होंने लोगों में यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि अंधविश्वासों का बुनियादी हिन्दू धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। राय ने केवल उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि अपने उपदेशों का खुद पालन भी किया। पुरातनपंथ हिन्दू समुद्र की यात्रा को पाप मानते थे। राय इस अंधविश्वास को तोड़ने वाले पहले हिन्दू थे। उन्होंने खुद समुद्र यात्रा की। उनकी इस साहसिकता ने उनकी कोशिशों को और प्रभावशाली बना दिया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।

2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये गए उत्तरों से कर लें।

1) एक सुधारक के रूप में राय को किन बातों ने प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

राय ने किन आधारों पर मूर्ति पूजा का विरोध किया?

.....

.....

.....

.....

.....

4.3 समाज सुधारक के रूप में राय

राय धार्मिक पिछड़ेपन के बाद भारत के सामाजिक पतन को उसके राजनीतिक ह्रास का कारण मानते थे। उन्हें इस बारे में कोई शक नहीं था कि यहां सामाजिक सुधार राजनीतिक मुक्ति की एक जरूरी शर्त थी। उन्होंने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अग्रणी काम किया।

राय ने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत आत्मीय सभा की स्थापना के साथ की। इस सभा ने कुलीन परम्परा के नाम पर कुछ विशेष हितों के कारण, कमसित लड़कियों को धनी पतियों के हाथों बेचे जाने की प्रथा का जम कर विरोध किया। इसने बहुविवाह प्रथा का भी विरोध किया और जातिगत अयोग्यताओं को खत्म करने के लिये काम किया।

राय भारत में अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका में विश्वास करते थे और उन्होंने, विशेषतौर पर सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील विधानों के रूप में, सामाजिक सुधारों के मामले में सरकारी मदद की मांग की। राय का यह विश्वास था कि सरकार के सक्रिय समर्थन के बिना अमानवीय सती प्रथा को खत्म करना असंभव होगा।

राय का लक्ष्य एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना था जो सहिष्णुता, सहानुभूति और तार्किकता के सिद्धांतों पर आधारित हो और जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के सिद्धांत सभी को स्वीकार हों, और जिसमें मनुष्य उन पारंपरिक बेड़ियों से मुक्त हो जाये, जिनका वह युगों से गुलाम है। वह एक ऐसे नये समाज की कामना करते थे, जो तमाम संकीर्ण सीमाओं से परे और आधुनिक हो।

राय के समाज सुधार के तरीके बहुविध थे। उन्होंने सभी संभव साधनों को मिला दिया, उन्हें भी जिन्हें आमतौर पर एक दूसरे का विरोधी समझा जाता था। उन्होंने अपने देशवासियों की बौद्धिकता को संशोधित किया और वह अक्सर प्रस्तावित सुधारों के समर्थन में धर्मग्रंथों की पंक्तियों और पदों का उद्धरण देते थे।

राय संस्कृत के विद्वान होने के नाते, यथा स्थिति की हिमायत करने वालों की आपत्तियों का जवाब देने के लिये मूल संस्कृत पाठों से उद्धरण देते थे और उन्हें निरुत्तर कर देते थे। मिसाल के तौर पर, बहुविवाह प्रथा की निंदा करने के निये उन्होंने यज्ञ की मिसाल दी जिन्होंने दूसरी पत्नी की अनुमति केवल आठ विशिष्ट आधारों पर दी थी, जैसे अगर पत्नी शराब पीने की आदी हो, उसे कोई लाइलाज बीमारी हो, उसे कोई आदि। फिर भी उनका मत था कि कोई भी ग्रंथ परमेश्वर का लिखा हुआ नहीं था इसलिये उसमें किसी गलती का होना असंभव भी नहीं था। राय ने समाज सुधार के विषयों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे और अहम धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद और पुनर्विवेचना भी की। उन्होंने शासकों को स्मरण पत्र और अपीलें भेज कर सामाजिक बुराइयों की ओर उनका ध्यान भी खीचा। संगठित मोर्चों के मंचों से उन्होंने लोगों के आगे धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के आदर्श रखे। उन्होंने मानव मुक्ति का लक्ष्य ले कर दुनिया में कहीं भी चलने वाले आंदोलनों में गहरी दिलचस्पी ली और उनका समर्थन किया। उनमें यह ऐलान करने का भी साहस था कि अगर संसद में पड़े किसी विशेष सुधार विधेयक को पारित नहीं किया गया तो वह अंग्रेजों से अपना नाता तोड़ लेंगे। उन्होंने बेसहारा विधवाओं और गरीब छात्रों की जरूरतों को पूरा करने वाले कई सामाजिक संगठनों की स्थापना की या उनमें कई तरह से मदद की।

4.3.1 जाति व्यवस्था पर

राजा राममोहन राय की जाति व्यवस्था पर सबसे बड़ी आपत्ति इन आधारों पर थी कि इससे समाज का विभाजन और उपविभाजन होता है। जाति विभाजनों से सामाजिक एकरूपता और समाज के अखंडित स्वरूप का नाश होता है और समाज राजनीतिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। जाति विभाजन के कारण लोग पूरी तौर पर राजनीतिक भावना, यानि समानता की भावना, एकजुटता की भावना, से वंचित रह जाते हैं। इस तरह से विभाजित कौम कोई बड़ा जोखिम उठा सकने के काबिल नहीं रह जाती। जाति व्यवस्था की विभाजनकारी भूमिका के अलावा राय इसके भेदभाव वाले स्वरूप की भी आलोचना करते थे। वह जाति की पारम्परिक श्रेणीबद्धता में निहीत असमानताओं के खिलाफ थे। वह जाति की पारम्परिक इस बात को तर्क के विरुद्ध मानते थे कि किसी व्यक्ति की योग्यता को उसके गुणों के आधार पर न आंक कर उसके जन्म के आधार पर आंका जाये। वह अंतरजातीय और अन्तरप्रजातीय विवाह के पक्ष में थे, उनका सोचना था कि इससे जाति विभाजनों की दीवारों को असरकारी ढंग से तोड़ा जा सकता है।

4.3.2 महिलाओं के अधिकारों पर

राजा राममोहन राय भारत में महिलाओं के अधिकारों के समर्थक थे। उन्होंने इस देश में महिलाओं की स्वतंत्रता के आंदोलन की नींव रखी। उन्होंने महिलाओं की दासता के खिलाफ विद्रोह किया और उन्हें उनके अधिकार दिये जाने की वकालत की। उन दिनों हिन्दू महिलाओं की हालत बहुत दयनीय थी। वे तमाम किस्म के अन्याय और अभावों की शिकार थीं। राय के अनुसार हिन्दू महिलाओं की दुर्दशा का मूल कारण था उन्हें सम्पत्ति का बिल्कुल भी अधिकार न दिया जाना। हिन्दू कन्या को उसके मृत पिता की सम्पत्ति में उसके भाईयों के साथ साझा करने का पारम्परिक अधिकार नहीं था। विवाहित महिला को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्र के साथ साझा करने का अधिकार नहीं था।

सन् 1822 में राय ने "ब्रीफ रिमम्कर्स रिगार्डिंग मॉडर्न एन क्रो चमेंत्स आन दि रणाशिएंट राइट ऑफ वीमेन" शीर्षक से एक किताब लिखी। उन्होंने यह बताया कि प्राचीन हिन्दू विधिदाताओं ने मां को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्रों के साथ साझा करने का अधिकार दिया था, और पुत्री को पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति में पुत्र को मिलने वाले अंश का एक चौथाई पाने का अधिकार था। राय ने बताया कि किस तरह धीर-धीरे ये अधिकार आधुनिक विधिदाताओं ने महिलाओं से छीन लिये। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि अधिकारों का यह हनन याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, बृहस्पति और अन्य विभूतियों द्वारा लिखे गये प्राचीन ग्रंथों में दिये गये प्रावधानों का खुला उल्लंघन था। हिन्दू विधवा की असहायता और अपमान की स्थिति अमानवीय सती प्रथा के पनपने का एक प्रमुख कारण थी।

अपने सम्पत्ति के अधिकारों से पूरी तौर पर वंचित महिलाएं जैसा कि बिल्कुल स्वाभाविक था,. अपनी स्वाधीनता खो बैठती थीं और परिवार के पुरुष सदस्यों की दासी हो जाती थीं। यह सोचा जाता था कि उनमें पुरुषों से कम बौद्धिक क्षमताएं होती हैं। उन्हें केवल शारीरिक स्तर पर जीवित रहने की अनुमति थी। पुरुष अपनी वासना की तुष्टि के लिये जितनी महिलाओं से चाहे विवाह कर सकते थे। लेकिन महिलाओं को दोबारा विवाह की अनुमति नहीं थी। राय के लिये पुरुष-महिला समानता विश्वास का मामला था, इसलिये यह बात उनके गले नहीं उतरती थी कि महिलाएं किसी मामले में तो पुरुषों से कम थीं। उनका तो सोचना यह था कि महिलाएं कुछ मामलों में तो पुरुषों से श्रेष्ठ ही थीं। राय का तर्क था कि आज महिलाओं में जो भी कमी दिखायी देती है उसका कारण यह है कि उन्हें पीढ़ियों से ज्ञान के स्रोतों से दूर रखा गया और जिंदगी की विभिन्न जिम्मेदारियां उठाने का मौका नहीं दिया गया।

राय ने बहुविवाह प्रथा का जम कर विरोध किया और पूरे जोश-खरोश के साथ इसका लज्जाजनक दुष्ट उपस्थिति का आभास कराया। उन्होंने एक ऐसे कानून का आग्रह किया जिसमें हिन्दू पुरुष न्यायाधीश की अनुमति हासिल करने के बाद ही दूसरी पत्नी कर सकें। राय कुछ परिस्थितियों में महिलाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मो समाज महिलाओं की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देता था।

4.3.3 सती प्रथा पर

क्रूर सती प्रथा का उन्मूलन शायद समाज सुधार का वह सबसे महान काम है जिसके साथ राजा राममोहन राय का नाम हमेशा के लिये जुड़ा रहेगा। राय ने अपने बस में सारे साधनों का इस्तेमाल इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने में कर दिया, जिसमें असहाय विधवा को अपने पति की चिता पर जिंदा जल जाने को मजबूर होना पड़ता था।

सन् 1818 में राय ने सती पर अपना पहला लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह तर्क दिया कि महिला की उसके पति से अलग भी जिंदगी होती है और इसलिये इस बात का कोई कारण नहीं बनता कि पति की मौत के बाद वह अपनी जिंदगी भी खत्म कर लें। पुरुषों और महिलाओं दोनों का जिंदगी का अधिकार समान रूप से अहम है। सती प्रथा को सदियों पुराना होने का तर्क देकर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह जरूरी नहीं है कि जो कुछ सदियों से होता चला आ रहा है वह हमेशा सही ही हो। अगर प्रथाओं को जिंदा रहना है तो उन्हें बदलती परिस्थितियों के साथ सामंजस्य करना होगा। राय के अनुसार सती प्रथा हत्या के बराबर है और इसलिये कानूनी दंडनीय अपराध है।

राय ने तीन मोर्चों पर सती प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया—सबसे पहला और सबसे अहम मोर्चा था जनमत राय। ने लेख लिख कर, भाषण देकर, आंदोलन चलाकर और विचार-विमर्श करके लोगों को मानसिक रूप से सती प्रथा के उन्मूलन के लिये तैयार किया और उन्हें यह समझाया कि इस प्रथा को किसी भी धर्म ग्रंथ का समर्थन प्राप्त नहीं है और इसलिये इस मामले में सरकारी कार्रवाई को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता। दूसरा, उन्होंने शासकों की हैसियत से यह उनकी जिम्मेदारी बनती थी कि वे इस क्रूर प्रथा को खत्म करें। तीसरा, मोर्चा था उन कारणों की पड़ताल करना जिनके कारण किसी हिन्दू विधवा को सती होता पड़ता था, और उन कारणों को खत्म करने के प्रबंध करना। राय ने पाया कि अपने वैध अधिकारों के बारे में महिलाओं की अज्ञानता उनका अनपढ़ होना, विधवा को सम्पत्ति के अधिकारों से परम्परा के आधार पर वंचित रखना, और उसके कारण उनकी असहायता, निर्भरता, दुःख और अपमान इस प्रथा के कुछ कारण थे। राय ने महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार देने और उनकी शिक्षा की सुविधाएँ जुटाने की जोरदार वकालत भी की।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) राजा राममोहन राय ने 1815 में जिस आत्मीय सभा की स्थापना की उसकी चिंता के प्रमुख विषय क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजा राममोहन राय को सती प्रथा के उन्मूलन के लिये जिन तीन मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा उनके बारे में बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

4.4 राय की राजनीतिक उदारवादिता

राय को उदारवाद का सबसे शुरूआती हिमायती और भारत में उदारवादी आंदोलन का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उदारवाद यूरोप में पुनर्जागरण और सुधार का सबसे मूल्यवान देन के रूप में उभरा था। इसकी तरफ 19वीं सदी के यूरोप और अमेरिका के कुछ सर्वोत्कृष्ट बुद्धिजीवी आकृष्ट हुए। यह भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार के पहले दौर की सबसे प्रभावशाली विचारधारा बन गई। संक्षेप में, उदारवाद का अर्थ होता है व्यक्तिगत व्यक्तित्व का मूल्य और गौरव, ऐतिहासिक विकास में मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति, और यह आस्था कि तमाम शक्ति का स्रोत जन होते हैं। स्वाभाविक ही है कि उदारवाद व्यक्ति के कुछ अधिकारों का हनन न होने देने पर जोर देता है जिनके बिना किसी भी मानवीय विकास के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उदारवाद मानवीय समानता पर जोर देता है और इस सिद्धांत पर भी कि व्यक्ति का समाज के लिये बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। उदारवाद में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक किसी भी क्षेत्र में अधिकार के मनमाने इस्तेमाल के लिये कोई गुंजाइश नहीं होती।

राय जीवन के सभी क्षेत्रों में उदारवादी सिद्धांतों की वकालत करते थे। धर्म के मामले में राय सहिष्णुता, समस्याओं के गैर-संप्रदायवादी समाधान और धर्म निरपेक्षता के कायल थे। वह व्यक्ति की इस स्वतंत्रता की कद्र करते थे जिसके रहते वह अपने विवेक की बात माने और पुरोहित वर्ग के आदेशों को न मानने की हिम्मत भी रखे। राजनीति के मामले में, राय विधान की अवैयक्तिक सत्ता के समर्थक थे और सत्ता के किसी भी मनमाने इस्तेमाल की खिलाफत करते थे। उनका विश्वास था कि संवैधानिक सरकार का होना मानवीय स्वतंत्रता की सबसे अच्छी गारंटी है। यह अधिकार की रक्षा करने के लिये आवश्यक संवैधानिक साधनों के इस्तेमाल पर जोर देते थे क्योंकि, उनके लिये, इस तरह के सुधार कहीं अधिक स्थायी और गहन थे।

आर्थिक क्षेत्र में उदारवादी सिद्धांतों के अनुरूप, राय जायदाद के अधिकार की पवित्रता में विश्वास रखते थे। इसी तरह, उनका विश्वास था कि एक मजबूत मध्यम वर्ग सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में एक अहम भूमिका निभा सकता था। वह जमींदारों के शोषण के शिकार गरीब किसानों की मुक्ति के हिमायती थे। वह चाहते थे कि सरकार जमींदारों से अपनी मांगों में कटौती करें। वह रैयतवाड़ी प्रथा और भारतीय सभ्यता के देहाती आधार को बनाये रखना चाहते थे और आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग की स्थापना करना चाहते थे लेकिन वह एक अहम मामले में दूसरे पश्चिमी उदारवादी चिंताओं से भिन्न थे, अर्थात् राज्य भूमिका और राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र में उनकी परिकल्पना में सामाजिक सुधार और जमींदारों से जोतदारों के अधिकारों की रक्षा करने के मामलों में पहल करने में राज्य से एक सकारात्मक भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जानी चाहिये।

4.4.1 स्वतंत्रता पर

राय की संपूर्ण धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सोच स्वतंत्रता की धुरी पर घूमती थी। मूर्ति पूजा की खिलाफत, सती प्रथा के खिलाफ उनका आंदोलन आधुनिक पश्चिमी शिक्षा की

उनकी मांग और समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उनका जोर, महिलाओं के अधिकारों पर उनका जोर, और ''अधिकारों के अलगाव की उनकी मांग, सभी स्वतंत्रता के प्रति उनके गहन प्रेम की अभिव्यक्ति थे। उनके लिये स्वतंत्रता मनुष्य समाज की अमूल्य निधि थी। भारत को राजनीतिक आजादी का संदेश देने वाले वह सबसे पहले व्यक्ति थे। यह मानते हुए भी कि अंग्रेजी राज से भारत को सकारात्मक लाभ मिलेंगे, राय ने भारत में अंतहीन विदेशी राज की कभी हिमायत नहीं की। वह ब्रितानी संपर्क को भारत की सामाजिक मुक्ति के लिये आवश्यक मानते थे। उसके बाद राजनीतिक आजादी का आना लाजमी था।

लेकिन, स्वतंत्रता के प्रति उनका प्रेम किसी एक राष्ट्र या संप्रदाय तक सीमित नहीं था। यह सार्वभौम था। वह मानव स्वतंत्रता का लक्ष्य लेकर चलने वालों के किसी भी संघर्ष के हिमायती थे। उनके लिये स्वतंत्रता एक न बांटी जा सकने वाली (अविभाज्य) चीज थी। उन्हें जहां स्पेन और पुर्तगाल में संवैधानिक सरकारों के गठन पर प्रसन्नता हुई वहीं 1821 में नैपल्स में ऐसी ही एक सरकार के गिर जाने पर दुःख भी हुआ।

स्वतंत्रता राय का सबसे गहरा मानसिक जुनून था। वह शरीर और मन की स्वतंत्रता में भी समान रूप से विश्वास रखते थे, और कर्म और सोच की स्वतंत्रता में भी वह मानवीय स्वतंत्रता पर नस्ल, धर्म और रीतियों के बंधन से दूर रहते थे।

4.4.2 व्यक्ति के अधिकारों पर

भारतीयों में नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता बनाने वाले राय पहले व्यक्ति थे। वह अंग्रेजों का इसलिये एहसान मानते थे क्योंकि उन्होंने भारतीयों के लिये वे सारे अधिकार उपलब्ध कराये जो इंग्लैंड में महारानी की प्रजा को प्राप्त थे। राय ने नागरिक अधिकारों की कोई फेहरिस्त तो नहीं बनायी, लेकिन शायद उनकी परिकल्पना के नागरिक अधिकारों में ये नागरिक अधिकार शामिल थे। जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार, मत रखने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार, जायदाद का अधिकार, धर्म (अपनी पसंद का) धर्म मानने का अधिकार, इत्यादि।

राय मत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे अधिक अहमियत देते थे। उनकी दृष्टि में, मन और बुद्धि की रचनात्मकता की स्वतंत्रता, और, विभिन्न माध्यमों से अपने मत और सोचों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसमें शामिल थी। राय के अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता शासक और शासित दोनों वर्गों के लिये समान रूप से उपयोगी थी। अज्ञानी लोगों से इस बात का कहीं अधिक डर रहता है कि वे शासकों के हरेक काम के प्रति बगावत कर दें, वे अधिकारियों के खिलाफ भी हो सकते हैं। इसके विपरीत प्रबुद्ध जनता केवल अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग का ही विरोध करेगी, अधिकारियों का नहीं। राय का तर्क था कि स्वतंत्र समाचार पत्र दुनिया के किसी भी हिस्से में कभी क्रांति का कारण नहीं बने। लेकिन ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां समाचार पत्रों की स्वतंत्रता न होने के कारण लोगों की शिकायतों को अधिकारियों तक नहीं पहुँचाया जा सका, नहीं दूर किया जा सका, जिससे स्थिति एक हिंसक, क्रांतिकारी बदलाव के लिये बन गयी। केवल स्वतंत्र और स्वाधीन समाचार पत्र ही सरकार और जनता की अच्छाइयों को उजागर कर सकते हैं।

लेकिन, राय समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंधों के खिलाफ नहीं थे। वह तो भारतीय समाचार पत्रों पर कुछ अलावा प्रतिबंधों को भी स्वीकार करते थे, जिन्हें इंग्लैंड के समाचार पत्रों पर नहीं लगाया गया था। उनका विश्वास था कि इस तरह के प्रतिबंध यहां इसलिये आवश्यक हैं कि क्योंकि यहां कुछ भारतीयों की तरफ से यह आशंका थी कि वे यहां के लोगों के मन में अंग्रेज शासकों के लिये घृणा पैदा कर सकते हैं। राय पड़ोसी दोस्त राज्यों के साथ शत्रुता पैदा करने वाली राजद्रोही किस्म की कोशिशों पर रोक लगाने की दृष्टि से लगाये गये प्रतिबंधों पर सख्त आपत्ति करते थे। उनकी राय में ये प्रतिबंध मनमाने और इस देश की परिस्थितियों में आवश्यक हैं।

4.4.3 कानून और न्यायिक प्रशासन पर

राय का दावा था कि कानून तर्क की सृष्टि है और उसमें भावना के लिये कोई स्थान नहीं। यह शासक का आदेश होता है। इसलिये ईष्ट इंडिया कंपनी के बड़े से बड़े अधिकारी में भारत के लिये कानूनों को लागू करने की क्षमता नहीं थी। यह अधिकार केवल संसद में सम्राट को हो सकता था। यही नहीं, राय का यह भी तर्क था कि इंग्लैंड की संसद को भारत

से संबंधित किसी भी विधान को अंतिम रूप देने से पहले इस देश के आर्थिक और बुद्धिजीवी कुलीनों के विचारों को भी ध्यान में रखना चाहिये।

राय ने कानून के संदर्भ में एक और अहम विचार दिया। वह था कानून को संहिताबद्ध करना शासक और शासितों दोनों के हित में था। उनका सुझाव था कि कानून को संहिताबद्ध करने का काम उन सिद्धांतों को आधार मान कर किया जाये जो समाज के सभी तबकों और गुटों में समान रूप से हों और सभी उन पर सहमत हों। कानून को संहिताबद्ध करने की प्रक्रिया में इस देश की प्राचीन समय से चला आ रही प्रथाओं को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिये। बेशक, केवल ऐसी प्रथाओं को लिया जाना चाहिये जो तर्कसंगत हैं और जन साधारण की भलाई के लिये है। इस तरह से संहिताबद्ध किया हुआ कानून सरल, स्पष्ट और सही होना चहिये। संहिताबद्ध कर देने से कानून की विवेचना और भी अवैयक्तिक हो जायेगी और इसे और भी समान रूप से लागू किया जा सकेगा।

राय कानून, प्रथा और नैतिकता में स्पष्ट भेद करते थे। वह इस बात को स्वीकार करते थे कि विकसित होती प्रथाएं कानून की एक अहम स्रोत होती है, लेकिन इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। वह कानून और नैतिकता में भी भेद करते थे। राय के अनुसार, यह भी हो सकता है कि कुछ कानून काननन तौर पर वैध हों, लेकिन नैतिकता की दृष्टि से अक्षम्य। इसी तरह, कुछ प्रथाएं नैतिक दृष्टि से स्वस्थ हो सकती है, लेकिन उन्हें कानून का समर्थन नहीं दिया जा सकता। नैतिकता के सिद्धांत सामाजिक यथार्थों के सापेक्ष होते हैं और कोई कानून असरकारी हो इसके लिये यह आवश्यक है कि इस कानून में उस समाज विशेष में प्रचलित नैतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाये।

अपनी किताब ''ऐन ऐक्सपोजीशन ऑफ रिवेन्यू ऐंड जुडीशियल सिस्टम इन इंडिया'' में राय ने प्रशासनिक और न्यायिक मामलों में अत्यावश्यक सुधारों पर एक गहन चर्चा प्रस्तुत की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रशासन को तब तक सक्षम और असरकारी नहीं बनाया जा सकता जब तक उसमें जन-साधारण की भाषा बोलने वाले अधिकारी न हों। प्रशासन और जनता के बीच संपर्क के कई रास्ते भी होने चाहिये।

न्यायिक क्षेत्र में सुधार के संबंध में राय के सुझाव कहीं अधिक हैं क्योंकि उनके लिये एक सक्षम, विष्पक्ष और स्वाधीन न्यायतंत्र स्वतंत्रता की सबसे बड़ी गारंटी होता है। राय का विश्वास था कि न्यायिक प्रक्रिया में भारतीयों की संगत को न्यायिक प्रशासन का एक आवश्यक अंग होना चाहिये। उन्होंने जिन और उपायों की वकालत की उनमें शामिल है—न्यायिक प्रक्रिया पर जागरूक जनमत की लगातार नजर रहे, कानूनी अदालतों में अंग्रेजी की जगह फारसी का इस्तेमाल, दीवानी मुकदमों में भारतीय निर्धारकों की नियुक्ति, जूरी मुकदमें की कार्यवाही सुने, न्यायिक कामों को अधिशासी कामों से अलग किया जाये, भारतीयों के बारे में कोई भी कानून लागू करने से पहले उनके हितों को लगातार ध्यान में रखा जाय। उन्होंने फैसला किया कि सदियों पुरानी पंचायत व्यवस्था को फिर से चालू करने का भी सुझाव दिया। इस तरह, राय ने राजनीतिक उदारवाद के अनुसार भारतीय न्यायिक व्यवस्था में कई सुधारों और संशोधनों का आग्रह किया।

4.4.4 राज्य की कार्यवाही के क्षेत्र पर

उदारवादी चिंतक होते हुए भी राय का विश्वास अहस्तक्षेप (दखलंदाजी न करने) में नहीं था। वह इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सके कि राज्य की कार्यवाही का क्षेत्र केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। अपने लेखों में उन्होंने राज्य के अधिकारियों से बार-बार यह आग्रह किया था कि वे ऐसी कई सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लें जो ''राजनीति'' की श्रेणी में नहीं आती। वह चाहते थे कि राज्य जमींदारों से किरायेदारों की रक्षा करें। उपयोगी और उदार शिक्षा की व्यवस्था करें, सती जैसी कुप्रथाओं को समाप्त करें और सभी पुरुष दोनों के जीवन रक्षा समान रूप से करें और स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित एक नयी सामाजिक व्यवस्था बनायें। राय के अनुसार किसी सरकार का होना केवल तभी सार्थक होता है जब वह अपने मूल कामों के अलावा इन सारे कामों को भी अंजाम दे।

4.4.5 शिक्षा पर

राय का विश्वास था कि जब तक इस देश की शिक्षा व्यवस्था को बिल्कुल बदल नहीं डाला जाता, तब तक इस बात की संभावना नहीं बन सकती कि लोग इतनी सदियों की

नींद से जाग उठेंगे। उनकी महत्वाकांक्षा शिक्षा व्यवस्था को बिल्कुल बदल डालने की थी। उनका विश्वास था कि केवल आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा ही भारतीय जनता में नयी जागरूकता और नयी क्षमताएं भर सकती हैं। इस तरह, की शिक्षा के बिना भारत में समाज सुधार का काम बहुत कमजोर होगा और देश हमेशा पिछड़ा रहेगा। खुद संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए भी राय का हमेशा यह सोचना रहा कि संस्कृत आधुनिक भारत के लिये प्रासंगिक नहीं है और इसलिये वह इसका सख्त विरोध करते रहे। उन्होंने शासकों से यह आग्रह किया कि अप्रासंगिक संस्कृत को आगे बढ़ाने के बजाय उन्हें चाहिये कि वे नयी भारतीय पीढ़ियों को उपयोगी आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से समृद्ध करें। राय चाहते थे कि युवाओं को रसायन शास्त्र, गणित, शरीर विज्ञान, प्राकृतिक दर्शन जैसे उपयोगी आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा दी जाये, उन पर व्याकरण की पेचीदगियों, और काल्पनिक ज्ञान को न लादा जाये। राय के विचारों और उनकी गतिविधियों ने भारत में शिक्षा व्यवस्था को एक नयी दिशा देने में सचमुच नेतृत्वकारी काम किया। वह नारी शिक्षा के पहले हिमायती थे।

4.4.6 अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व पर

इस विषय पर राजा राममोहन राय के विचारों और उनकी भविष्य उन्मुख कल्पना और अंतदृष्टि की अभिव्यक्ति है उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व की एक सुंदर तस्वीर बनायी है, वह 18वीं सदी के शायद पहले चिंतक थे जिनके पास अंतर्राष्ट्रीयता की सही परिकल्पना थी। यह परिकल्पना (दृष्टि) सार्वभौम धर्म की तलाश करते समय उन्हें मिली होगी। सार्वभौमिकता के भविष्यवक्ता, राय का यह तर्क था कि दुनिया के सभी राष्ट्रों को एक धरातल पर रखा जाना चाहिये जिससे विश्व एकता और व्यापक बंधुत्व के बांध की स्थिति बनायी जा सके। केवल उसी स्थिति में राष्ट्रीयता (या, राष्ट्रवाद) और अंतर्राष्ट्रवाद) के बीच के अंतर्विरोध को समाप्त किया जा सकता है।

राय का मानना था कि विभिन्न जन-जातियों और राष्ट्र केवल एक ही परिवार की शाखाएं हैं और इसलिये दुनिया के प्रबुद्ध राष्ट्रों के बीच बारम्बार विचारों का आदान-प्रदान और सभी मामलों में विनिमय होना चाहिये। राय के अनुसार मानव जाति को सुखी और संतुष्ट बनाने का केवल यही एक रास्ता है। राजनीतिक मतभेदों को हरेक संबद्ध समान संख्या के प्रतिनिधियों वाले एक सामान्य मंच पर आकर सुलझाया जा सकता है। इस तरह का सामान्य मंच सभी अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों को सुलझाने के लिये भी उपयोगी हो सकता है, जिससे मानव जाति पीढ़ियों तक शांति के वातावरण में रह सकेगी।

इस सिलसिले में राय के विचार भविष्यवादी साबित हुए। राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू.एन.ओ.) एक तरह से इन विचारों की अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का इस्तेमाल करें।

2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

1) राय ने उदारवाद के सिद्धांतों को जीवन के तमाम क्षेत्रों में कैसे लागू किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर राय के विचारों को संक्षेप में बतायें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 सारांश

राजा राममोहन राय को "आधुनिक भारत का जनक" कहा जाता है। उन्होंने पश्चिमी और पूर्वी दर्शन को मिलाने की कोशिश की। उनके लेख और विचार प्राचीन भारतीय विचारों के आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांतों के साथ संश्लेषण का उदाहरण है।

धर्म की समीक्षा और पुनर्मूल्यांकन राय की चिंता का प्रमुख विषय था, जिसके लिये उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। इस समाज ने धार्मिक और दार्शनिक चिंतन और चर्चा के लिये एक मंच का काम किया।

राय विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और दर्शनों के जानकार थे और इन सबका उनके लेखकों और विचारों पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिंदू धर्म का गहन अध्ययन और विश्लेषण किया और इस तरह धर्म के बुनियादी सिद्धांतों की पुनर्विवेचना की। इस तरह, से राय यह साबित करना चाहते थे कि अंधविश्वासी प्रथाओं का मूल हिन्दू धर्म में कोई आधार नहीं था।

राय के अनुसार, बिगड़ते राजनीतिक और सामाजिक परिवेश का एक और कारण था कि भारतीय समाज का सामाजिक पतन। वह एक नये भारतीय समाज की रचना करना चाहते थे जहां सहिष्णुता, सहानुभूति, विवेक, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों का सम्मान हो। इस तमाम सिलसिले में उनका विश्वास था कि ब्रितानी सरकार का समर्थन आवश्यक था।

राय जाति प्रथा और सती प्रथा के खिलाफ थे। वह महिला अधिकारों के महानतम समर्थकों में थे। उनका विश्वास एक स्पष्ट रूप से सीमित संविधान की क्षमता में था जो राज्य पर नियंत्रण रख सके और व्यक्तियों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा कर सके। वह अंतरराष्ट्रवाद के विचार को स्वीकार करने और लोकप्रिय बनाने वाले पहले भारतीयों में थे।

बहुमुखी व्यक्तित्व के स्वामी राय ने तमाम किस्म के अन्यायों, शोषक प्रथाओं और अंधविश्वासों के खिलाफ अदम्य आंदोलन चलाया।

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चटर्जी, रामानंद : **राम मोहन राय एण्ड मॉर्डन इंडिया**

कम्मिट, सोफिया डाबिसन: **लाइफ एण्ड लैटर्स ऑफ राजा राममोहन राय**, कलकत्ता, 1913

जोशी, वीएसी. (संपा.) : **राम मोहन एण्ड प्रासेस ऑफ मॉर्डनाइजेशन इन इंडिया**, मुम्बई, विकास, 1975

मजुमदार, बी.बी. : 1967 **हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज फ्राम राममोहन राय टु दयानंद**, इलाहाबाद, बुकलैंड

मूर, आर. जे. : 1966 **लिबरलिज्म एण्ड इंडियन पॉलिटिक्स** 1922, लंदन, एडविन

नटराजन, एस. : 1954 **सेंचुरी ऑफ सोशल रिफॉर्म इन इंडिया**, बम्बई

नटेशन, जी.ए. (dm.) **राजा राममोहन राय–राईटिंगज एण्ड, स्पचेज**, नटेशन एण्ड कं. मद्रास

राममोहन राय 1935 शतवार्षिकी खंड 1 और 2, कलकत्ता

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राय पर अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी और लगभग 17 अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ा। इस्लाम ने उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा।

इस प्रभाव में आकर वह बहुईश्वरवाद और मूर्ति पूजा के विरोधी हो गये और उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य की गहन अध्ययन किया और कुछ उपनिषदों का अंग्रेजी और बंगला में अनुवाद किया। वह ईसाई धर्म, विशेष तौर पर इसके नैतिक संदेश से भी प्रभावित हुए। उन्होंने अंग्रेज उदारवादों के लोखों से उदारवादिता सीखी।

2) राय के लिये मूर्ति पूजा कई सामाजिक बुराइयों की जड़ थी। इससे अनेकानेक देवताओं को जन्म मिलता है, पूजा के अनेकानेक तरीके निकल पड़ते हैं जिससे समाज बंट जाता है। मूर्ति पूजा विवेक और सामान्य बोध के खिलाफ है। इसे प्राचीन धर्म ग्रंथों में कोई समर्थन नहीं प्राप्त है।

बोध प्रश्न 2

1) राजा राममोहन राय द्वारा 1815 में गठित आत्मीय सभा की चिंता के प्रमुख विषय थे संपन्न पतियों के हाथों कमसित लड़कियों का बेचा जाना, और बहु विवाह की प्रथा।

2) पहला मोर्चा था जनमत। राय ने हर संभव साधनों का इस्तेमाल कर जनमत को शिक्षित करने की कोशिश की। दूसरे, उन्होंने इस मामले में शासकों को आश्वत करने की कोशिश की और उन्हें इस सिलसिले में उनकी जिम्मेदारी की याद दिलायी। तीसरा मोर्चा था हिन्दू महिलाओं की सती होने के लिये बाध्य करने वाले कारणों की जांच और उनका उन्मूलन।

बोध प्रश्न 3

1) धर्म के क्षेत्र में राय ने सहिष्णुता, सभी समस्याओं गैर-संप्रदायिक निराकरण और धर्मनिरपेक्षता पर जोर दिया। वह पुरोहित वर्ग द्वारा निधारित नियमों और निषेधों की तुलना में मनुष्य के विवेक की आवाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। राजनीतिक क्षेत्र में, राय कानून के अवैयक्तिक अधिकार के समर्थक और तमाम किस्म के मनमाने अधिकार के खिलाफ थे। उनका सोचना था कि संवैधानिक सरकार और संवैधानिक साधन मानव-अधिकारों की सबसे अच्छी गारंटी देते हैं। राय संपत्ति के अधिकार के हिमायती थे। लेकिन वह अस्तक्षेप की नीति से सहमत नहीं थे।

2) राय के लिये, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य का सबसे अहम अधिकार था। यह शासकों और शासितों दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी होता है। सत्ता के दुरुपयोग का समय से भंडाफोड़ करके, स्वतंत्र समाचार पत्र शासकों को उनकी भूलें सुधारने में मदद करते हैं और जनता की शिकायतों को दूर करने की संभावना बनाते हैं।

इकाई 17 स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा वी. डी. सावरकर

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती
17.2.1 जीवन-रेखा
17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार
17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद
17.3 स्वामी विवेकानंद
17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा
17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा
17.4 वी. डी. सावरकर
17.4.1 जीवन-रेखा
17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार
17.5 सारांश
17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीति तथा धर्म एवं नीतिशास्त्र के अंतःसाध्य का विवेचन किया गया है; तीन अग्रणी हिंदू व्यक्तित्वों के विचारों को सामने रखते हुए, जिन्होंने राष्ट्रवाद एवं राजनीति की एक विशिष्ट हिन्दू अवधारणा के विकास में योगदान किया है। यह इकाई इसी अंतःसाध्य को सामने लाती है। इस इकाई के अध्ययन से आपः

- मध्य उन्नीसवीं सदी काल से हिंदू चिंताधारा के विकास को स्पष्ट कर सकेंगे।
- हिंदू राष्ट्रवादी विचारों के निरूपण के माध्यम से हिंदू समाज के पुनर्नवन प्रयासों की व्याख्या कर पायेंगे।
- उपरोक्त प्रयासों की विविध अंतःधाराओं का बोध कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत आप जिन तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे, वे धार्मिक शब्दावली में तीन भिन्न दृष्टिकोणों और विचार सारणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दयानंद सरस्वती वेदों की परम सत्ता में उत्कृष्ट आस्था रखने वाले व्यक्ति थे। वैदिक हिंदू धर्म के पुनरुत्थान संबंधी उनके उद्‌गारों में बहुदेववाद और उससे जुड़े अनेक अर्थहीन कर्मकांडों के प्रति सहिष्णुता का अभाव मिलता है। दूसरी ओर, हिन्दू समाज को सुधारने और परिचय के निकृष्ट भौतिकवादी प्रभावों से इसको बचाने की कैसी ही उद्दाम आकांक्षा के बावजूद, विवेकानंद ने अपनी प्रेरणाएं मुख्यतः वेंदात दर्शन से प्राप्त की थीं। इसलिए वे बहुदेववाद और मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं गए। इनसे भिन्न सावरकर अधिकाधिक खुले रूप में राजनीतिक चरित्र थे। वे हिंदू समाज के अंतर्गत एक निरीश्वरवादी थे। हिंदुत्व पर उनका ज़ोर मुख्यतः राष्ट्रवादी चेतना को उद्‌देश्य एवं दिशा देने के लिए था। इसीलिए उनका राष्ट्रवाद भी अधिकाधिक उग्र आक्रामक था।

स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और वी. डी. सावरकर

फिर भी, उपरोक्त प्रत्यक्ष भिन्नताओं के बावजूद इन धाराओं में एक अंतर्निहित एकता मिलती है—धार्मिकता के आधार पर राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास। धर्म और राजनीति का यह अंतःसाध्य ही भारतीय राष्ट्रवादियों के समूचा समुदाय संजोये हुए था—श्री अरबिंदो, अनेक ''आतंकवादी'' अर्थात् राष्ट्रवादी समूहों से लेकर बाल गंगाधर तिलक जैसे कांग्रेस नेताओं तक। दरअसल, यह अंतःसाध्य महात्मा गांधी समेत अनेक कांग्रेस नेताओं में भी मिलता है। गांधी की रामराज्य संबंधी अवधारणा और उनके द्वारा हिंदू धार्मिक प्रतीकों का सतत प्रयोग हिंदुत्व पर आधारित राष्ट्रवाद की इस अवधारणा के प्रभाव को निरंतरता दिखाते हैं।

17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती

17.2.1 जीवन-रेखा

दयानंद सरस्वती (1824-1883) काठियावाड़ (गुजरात) स्थित भौरवी के एक सामवेदी ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। 21 वर्ष की आयु में वैवाहिक जीवन की बाध्यता से बचने के लिए वे घर से भाग निकले। 1845-1860 के बीच वे ज्ञान-संधान के लिए विभिन्न स्थानों पर भटकते रहे। 1860 में मथुरा के स्वामी विरजानंद सरस्वती के अधीन उन्होंने पाणिनि और पंतजलि का अध्ययन आरम्भ किया और 1864 से धर्मोपदेश में लग गये। 17 नवम्बर, 1869 को वे काशी में हिन्दू रुढ़िवादी नेताओं के साथ भीषण शास्त्रार्थ में उलझे। 10 अप्रैल, 1875 को बंचई में आर्य समाज की स्थापना हुई और 1877 में लाहौर में इसके संविधान को अंतिम रूप दिया गया।

17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार

स्वामी दयानंद सरस्वती उन प्रभावशाली चिंतकों में से एक थे जो अपने सामाजिक विचारों को सूत्रबद्ध करने के लिए पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर करते थे। उनके सोच-विचार का मुख्य अभिप्राय यह था कि भारतवासियों के लिए ''वैदिक विचारों की ओर प्रत्यावर्त्तन आवश्यक है।'' जब दयानंद अपने विचार एवं चिंतन को सूत्रबद्ध कर रहे थे, हिंदू धर्म पतनशीलता का शिकार बन चुका था। वह ऐसा युग था जब ब्रिटिश शासन स्वयं को भारत में सुदृढ़ बना रहा था। इसलिए उनका आधारभूत प्रयास था वैदिक पुनरुत्थान, हेतुवाद और पर्याप्त रूप से समकालीन महत्व के सामाजिक सुधार के तीन लक्ष्यों की प्राप्ति। वे पश्चिमी विश्व और इस्लाम के गंभीर आलोचक थे। पाश्चात्य विचारों और रुझानों के माध्यम से आधुनिकीकरण के पक्षधर व्यक्तियों के भी उतने ही कटु आलोचक थे। दयानंद के अनुसार, भारत के सामने उपस्थित समस्याएं और उनके समाधान दर्शन, राजनीति और समाज के स्तरों पर थे। उनके विचार में, भारतीय जनमानस में आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की चेतना भरना आवश्यक था।

पहले हम उनके चिंतन के केंद्रीय भाग पर विचार करेंगे। उनके चिंतन के केंद्र में वेदों की ओर उनका रुझान आता है, जिसे वे समस्त मानवीय ज्ञान और मनीषा का कोष मानते थे। उन्होंने वेदों के निम्नांकित पहलुओं पर प्रकाश डाला।

1) दैवी विधान के प्रति आज्ञाकारिता से व्यक्ति सीधे ईश्वर से संवाद कर सकता है। वह अन्य विधानों के अनुपालन के लिए भी स्वतंत्र है, जहां तक कि वे दैवी विधान से संगति में हैं। दयानंद का सोचना था कि व्यक्ति अपने शुद्ध स्वत्व की प्राप्ति कर सकता है, इस विषय पर अपने दृष्टिकोण की परीक्षा और समीक्षा के माध्यम से। इसके बाद ही वह त्रुटियों के बोध में, और इस प्रकार ऐसे कालगत विधानों से अपने को अलग करने में जो अनुपालन के योग्य नहीं हैं, और उन विधानों के विपरीत संगठित होने में समर्थ हो सकता है।

2) कोई व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है, जहां तक कि उसके अनुगामी स्वतंत्र हैं।

3) वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता के उपभोग का

प्रावधान है, सामाजिक संरचना में उनकी प्रकार्य स्थितियों से निरपेक्ष रूप में।

दयानंद के अनुसार, भारत अपनी विगत गरिमा वर्तमान सामाजिक कमजोरियों पर विजय से ही प्राप्त कर सकता है। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि भारतीय संस्कृति की समृद्ध विरासत के बावजूद हिंदू पाश्चात्य सभ्यता की नकल कर रहे हैं, जो उन्हें पतन की ओर ले जा रही है। अपने विचार को उचित ठहराने के लिए उन्होंने बल दिया कि वैदिक काल में भारत सभ्यता का ऐसा स्तर प्राप्त कर चुका था जो पश्चिम के लिए सदियों बाद ही संभव हुआ।

उन्होंने सुझाया कि जो लोग इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभावों के अधीन धर्म परिवर्तन कर चुके हैं, उन्हें हिंदू धर्म की परिधि में वापस लिया जाना चाहिए। उनके अनुसार, शुद्धीकरण के माध्यम से यह संभव है और यह एकीकरण इसीलिए भी आवश्यक है कि वेदों की स्वीकृति के लिए उन्हें प्रेरित करके देश के लिए सशक्त और आत्मनिर्भर आधार बनाया जा सकेगा। सांस्कृतिक समरूपता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने हिंदी को प्रोत्साहित किया। जब उपरोक्त एकीकरण उपलब्ध किया जा सकेगा और उसे हिंदी भाषा के सार्व संबंधों से पुष्ट किया जायेगा, तभी भारत विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने में समर्थ होगा।

राष्ट्रीय प्रगति के लिये एक सबसे बड़ा अवरोध हिंदू समाज के अंदर से ही उभरा। उच्च जातीय हिंदुओं के एक तबके ने वर्ण-व्यवस्था में अपने अनुकूल परिवर्तन किए। इसके फलस्वरूप योग्यता के स्थान पर जन्म संबंध की प्रतिष्ठा हुई जिसने असमानता और उच्च स्तर जाति के सामने निम्नतर पेशेवर समूहों (जातियों) की अधीनस्थता को बल मिला। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की चुनौती अथवा प्रश्नों से परे समाज के खामियों से ऊपर की स्थिति में आ गये और शूद्र दयनीय स्थिति में ठेल दिए गए। हिंदू समाज मूर्ति पूजा, जातिवाद, बाल विवाह और बहुदेववाद के आपत्तिकृत विविध कर्मकांडों, समारोहों, अंधविश्वासों और जड़ सूत्रवाद की चपेट में आ गया। जड़ताग्रस्त समाज के अंतर्गत व्यक्ति आध्यात्मिकता से अलग-थलग जा पड़े। इसलिए ईश्वर के साथ उनका संवाद संभव नहीं रह गया। सबको दयानंद उपनिषदोत्तर काल में आया भ्रष्टाचार मानते थे।

इसलिए दयानंद ने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांतों की ओर लौटने की अभिशंसा की, जिसके अंतर्गत जातीय पद स्तर की कसौटी जन्म मात्र नहीं होता, बल्कि जाति का आधार गुण, कर्म और स्वभाव होगा। उनके विचारानुसार इस सुधरे रूप में जात सामाजिक पुनर्गठन का पथ प्रशस्त कर सकती है। इस प्रकार जाति की उनकी अवधारणा सेक्यूलर प्रभावों के अंतर्गत थी। स्वभावतः इसने वंशानुगत उच्चतर जातियों के प्रभुत्व को व्यापक चुनौती दी और उत्पीड़ित एवं अश्पृश्य समूहों के स्तर को उठाया। उन्होंने अस्पृश्यता को अमानवीय और वैदिक धर्म के विपरीत बताते हुए उनकी भर्त्सना की। उनकी व्यवस्था के अनुसार कोई भी शूद्र स्वच्छता, चरित्र निर्माण और परिवेश सुधार के माध्यम से द्विज की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) संक्षेप में दयानंद के राजनीतिक विचारों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद

महिला समस्याओं के संदर्भ में, दयानंद बाल विवाह और वैधव्य बाध्यता की कुप्रथाओं के विरुद्ध थे, जो उनके अनुसार वेद सम्मत नहीं थी। पुनर्विवाह की वर्जना वाले हिंदू समाज के अंतर्गत बाल-विधवाओं की दयनीय स्थिति को लेकर उन्हें गहरी चिंता थी। इसीलिए

स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और वी. डी. सावरकर

उन्होंने "नियोग" (विधुरों और विधवाओं के अस्थायी सह-जीवन) और बाद में विधवा-पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया।

आर्यावर्त (भारत) के सुख शांति के उद्देश्य से दयानंद ने अपने विश्व दृष्टिकोण में शिक्षा को केंद्रीय स्थान दिया। नैतिकता एवं धार्मिकता पर आधारित और सभी स्त्री-पुरुष के लिए अभियोजित शिक्षा ही दयानंद चाहते थे। इस शिक्षा का भार उनके अनुसार, सम्राट/राज्य को उठाना चाहिए। भारत का पुनर्जागरण इसी पर निर्भर करता है। वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे जिसमें व्याकरण, दर्शन, वेद, विज्ञान, चिकित्सा, संगीत और कला के अध्ययन पर जोर दिया जाता है।

दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन की दो केंद्रीय और कुछ-कुछ परस्पर विरोधी अवधारणाएं हैं।

"प्रबुद्ध राजतंत्र" संबंधी अवधारणा मनुस्मृति से ली गई है, जो धर्मानुदेशों के अनुपालन पर आधारित है। इसी कुछ-कुछ अंतर्विरोधी अवधारणा निर्वाचित प्रतिनिधित्व अथवा जनवाद की है, यद्यपि दयानंद के विचार से यह सचमुच कोई अंतर्विरोध नहीं है क्योंकि वेदों में भी सभाओं तथा सम्राटों के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। निर्वाचन सिद्धांत पर बल देते हुए वे सम्राट की व्याख्या स्थाई अध्यक्ष के रूप में करते हैं। इसके अलावा, उनके विचार से राजनीति को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने "आध्यात्मिक नेतृत्व द्वारा राजनीतिक नेतृत्व" के निर्देश के पक्ष में सशक्त तर्क दिए।

दयानंद ने अपने जनतांत्रिक निर्वाचन सिद्धांतों का अनुप्रयोग आर्य समाज के प्रकार्यों तथा सांगठनिक ढांचे में भी किया। वे एक ऐसे राजनीतिक समुच्चय की परिकल्पना करते थे जिसका एक विकेंद्रित स्वरूप हो, एक व्यापक "कामन वेल्थ" जिसकी इकाई गांव हो।

1875 में स्थापित आर्य समाज ने विशेषकर उत्तर भारत में, स्वतंत्रता सेनानियों की एक समूची पीढ़ी का निर्माण किया। इसके दस महत्वपूर्ण सिद्धांतों में से कुछ निम्नलिखित हैं:

1) ईश्वर ही शुद्ध ज्ञान का स्रोत है।
2) सच्चे ज्ञान के संरक्षक के रूप में वेदों तथा आर्य समाज के अनुयायियों के बीच संबंध अटूट हैं। उन्हें वेदों की अंतर्वस्तु को अपनाना और जन समुदाय में प्रचारित करना चाहिए।
3) किसी भी कार्य को नीतिगत औचित्य अनिवार्य है।
4) आर्य समाज सभी दृष्टियों से विश्व मुक्ति के विचार को समर्पित है।
5) ज्ञान की रश्मियां अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकती हैं।
6) व्यक्ति को दूसरों के लिए भी पर्याप्त साधन छोड़ने चाहिए। उनका कल्याण सहकर्मियों के सामूहिक विश्वास से जोड़कर देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये उत्तर से मिलाएं।

1) संक्षेप में कुछ उन सिद्धांतों का उल्लेख करें जिन पर कि आर्य समाज की स्थापना हुई।

.....
.....
.....
.....
.....

17.3 स्वामी विवेकानंद

17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं सदी भारत के एक सर्वाधिक प्रभावशाली धार्मिक चिंतक थे। उनकी रचनाओं में मूलतः मानव स्वातंत्र्य, उसकी प्रकृति, मानदंड, व्यापकता तथा स्वतंत्रता की समतुल्यता के विचार का विवेचन किया गया है।

विवेकानंद के अनुसार विश्व इसके सृजनकर्ता ब्रह्म की मायवी अभिव्यक्ति है। माया के अंतर्गत ज्ञान, सृजनात्मकता, और अंतश्चेतन आकांक्षाओं का सन्निवेश है, जो वस्तुतः सृजनकर्ता की ही दृश्य छपियां हैं। ब्रह्मा को विश्व के संयोजन का व्यापक सामर्थ्य प्राप्त है और उनका प्रभाव उनके सृजन के बीच अंतर पदार्थिक भौतिक स्वरूपों में प्राप्त सीमित गुणों में देखा जा सकता है। यह उल्लेख सम मानव जाति के संदर्भ में है जो चीज़ मनुष्य को सृष्टिकर्ता से अलग करती है, वह है उसमें सन्निहित गुण। मनुष्य में तीनों गुणों का विकास समान गति से कभी नहीं होता और न समान स्तर प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति में गुणों के असमान विकास का भिन्न-भिन्न संयोजन मिलता है। इसके विपरीत ब्रह्मा में यह संबंध इतने पूर्ण रूप से मिलता है कि ज्ञान, सृजनात्मकता एवं अंतश्चेतन आकांक्षा के तीन गुणों तथा इन गुणों के परे की स्थिति में कोई अंतर नहीं देखा जा सकता। अपने प्रमुख गुण के साथ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यापकतर इकाई का, अर्थात् ब्रह्मा के रूप में सर्वव्यापी समग्रता का अंत बनता है। इसलिए, व्यक्ति के लक्ष्य को अपनी सच्ची अभिव्यक्ति ब्रह्मास्वरूप समग्र मानव जाति में ही मिल सकती है। विवेकानंद ने शाक्त द्वारा ब्रह्मत्व की सिद्धि को मोक्ष की स्थिति बनाया।

विवेकानंद के अनुसार, व्यक्ति स्वतंत्र अवश्य हुआ है लेकिन जीवन स्थितियों ने उसकी स्वाभाविक स्वतंत्रता को अवरुद्ध करके उसे एक अलग-थलग कटा हुआ व्यक्तित्व बना दिया है जो अपनी ही इच्छाओं और उद्देश्यों की अबाधित साधना में लगा है। इससे देर-सवेर वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के मार्ग में आ जायेगा और फलस्वरूप वे सभी एक-दूसरे को खारिज कर देंगे। सृजनात्मक क्षमताओं के विकास के लिए व्यक्तिनिष्ठ गुण जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति, उसके आध्यात्मिक स्वरूप का प्रस्फुटन भी आवश्यक है। विवेकानंद व्यक्तित्व एवं सामाजिक दोनों की ही एक साथ सिद्धि संभव मानते थे। यदि मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी अंतर्भूत सामाजिकता से बाधित होता है, तब इसकी परिणति उसी तरह के व्यक्तियों द्वारा प्रतिरोध में होती है।

चूंकि, स्वतंत्रता मनुष्य मात्र का सहज गुण है, स्वतंत्रता की सीमा भी इसकी स्वतः पूर्णता बनाए रखने के लिए सहज होनी चाहिए। स्वतंत्रता की ऐसी परिसीमाएं धर्म से आनी चाहिए, क्योंकि धर्म ही व्यक्ति में वैयक्तिता सामाजिकता के बीच सम्यक् संबंध बनाए रख सकता है और उसे आध्यात्मिक चेतना के समुचित उच्च स्तर तक ले जा सकता है। विवेकानंद का अनुभव था कि कुछेक परिस्थितियां मनुष्य को इस प्रकार कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं, जो अन्यों की स्वतंत्रता कम करने के साथ-साथ स्वयं उसकी इच्छा के विरुद्ध जाता है। सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए यह सहायक नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य की स्वतंत्रता के परिसीमन का उद्देश्य परिष्कार होना चाहिए, दमन नहीं। विवेकानंद ने परिष्कार को धार्मिक स्वतंत्रता के समतुल्य माना, इससे ही स्वतः स्फूर्त स्वतंत्रता के उपभोग की सहज संभावना बनती है। धार्मिक आस्था किसी सटीक सूत्रीकरण का उल्लंघन करती है और कभी-कभी कुछ समय के लिए "सत्व" को पृष्ठभूमि में छोड़ते हुए "रजोगुण" से तत्कालीन भारत में विद्यमान भौतिक जीवन दशाओं को प्रधानता देती है। स्वतंत्र रूप में अपने लक्ष्यों की सिद्धि की प्राप्ति और अन्य शक्तियों की स्वतंत्रता की मान्यता इस बात की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य सारतः सामाजिक प्राणी हैं और इसलिए सामुदायिकता को ही वरीयता देगा। विवेकानंद कुछ उदाहरणों से अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं। वे भारत में प्राकृतिक समुदायों के विकास को "वर्ण" व्यवस्था का परिणाम मानते हैं, जिसके अंतर्गत "ब्राह्मणों" और क्षत्रियों को रज (सृजनात्मकता) श्रेणी में रखा गया था और वैश्यों और शूद्रों को तम (अंतराकांक्षा/वासना) श्रेणी में। वैसे श्रेणी विभाजन का हमें प्राचीन ग्रीस में उल्लेख मिलता है। प्लेटो द्वारा तीन गुणों– तर्कना, साहस और क्षुधा के विवेचन में।

विवेकानंद ने यह बात भी सामने रखी कि भारत में जहां सामाजिक जीवन व्यक्ति की भूमिका विशेष पर बल देता था, वहीं पश्चिमी समाज व्यापकता अथवा समग्रता पर। इसलिए भारत में राजनीति पूर्व युग के अवसान के साथ ही व्यक्ति की भूमिका कम होने लगी, जबकि पश्चिमी समाज में व्यक्ति सुदीर्घ काल तक केंद्रीय मंच पर बना रहा। इस तथ्य ने स्वाभाविकतः पश्चिमी समाज को स्वतंत्रता, समानता इत्यादि उदारवादी सिद्धांतों के प्रति संवेदनशील बनाए रखा।

भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित विश्व में स्वतंत्रता एक अधिकार बन चुकी थी, स्वतंत्रता मात्र कल्पना नहीं थी। विवेकानंद के विचारानुसार स्वतंत्रता का संबंध सहज राजनीति पूर्व मनुष्य से है। राजनीतिक व्यवस्था की रचना के साथ ही स्वतंत्रता का पतन एक अधिकार की स्थिति तक हो गया। मनुष्य अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील था, न कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए जो एक स्वतः स्फूर्ति और सार्वभौम प्रक्रिया थी।

शुद्ध रूप	भ्रष्ट रूप
1. वर्णाश्रम (योग्यता के आधार पर स्वच्छंद गतिशीलता)	वंशानुगत, श्रेणी शुद्ध जाति व्यवस्था में रूपांतरण (जाति-स्तर और अंतर्जातिक गतिशीलता पर जन्म आधारित प्रतिबंध)
2. सच्चह स्वतंत्रता	अधिकारों के लिए संघर्ष के स्तर तक पतन।
3. सामाजिक मनुष्य	सत्ता, संरक्षण और वर्चस्व के लिए संघर्ष ही चारित्रिक विशेषताएं बनती हैं। शुद्रों की दशा में गिरावट।

इस प्रकार, अधिकारों के लिए ही आत्यांतिक सरोकार (अधिकारवाद) के कारण ही भारत अपनी वर्तमान दुयवस्था तक पहुंचा है। विवेकानंद के अनुसार अधिकारवाद तक (अंतराकांक्षा/वासना) का पर्याय बन चुका है, क्योंकि विशेषाधिकार वर्ग से संबंध होने के बावजूद व्यक्ति अपने आध्यात्मिक खोखलेपन के कारण विशेषाधिकार बनाए नहीं रख सकता था। इसलिए व्यक्ति के उच्चतर अथवा निम्नतर स्तर से संबंधों में कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि वे सभी अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में ही लगे हैं। श्रेणी क्रमबद्ध जाति व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की भूमिका रूढ़ बना दिये जाने के कारण भारतीय सभ्यता भी अमानवीय हो चुकी थी। इसलिए एक प्रकार की सांस्कृतिक क्रांति ही भारत को उसके विगत वैभव की स्थिति में ला सकती थी। विवेकानंद ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश तथा उनके पूर्व के विदेशी विजेता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाये रख पाते थे, इसलिए कि भारत अधिकारवाद के शिकंजे में फंसा था। विवेकानंद ने बताया कि कोई ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था भारत को पुनः स्वतंत्रता की स्थिति में नहीं लायेगी, क्योंकि यह उनके वश के बाहर है। फिर भी उन्होंने भारतीय जनगण, विशेषकर युवकों का आह्वान किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रवादी संघर्ष में भाग लेने के लिए, इस आशा के साथ कि "सुप्तावस्था" में पड़ा देश हर दृष्टि से जागरूक बनेगा और संभवतः भारत को अधिकारवाद के चुंगल से मुक्त करेगा।

विवेकानंद ने भारत की वर्तमान स्थिति के लिए महत्वपूर्ण कारक प्रभुत्वशाली जाति व्यवस्था को ही बताया। इससे मुक्ति का माध्यम सच्ची धार्मिकता की ओर वापसी ही है और स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम। गौरव एवं सम्मान की पुनप्राप्ति के माध्यम से ही दीनहीनों को उद्धार संभव है (रामकृष्ण मिशन/मठ)। उन्होंने विस्तार से दरिद्रनारायण की चर्चा की। उनके उत्थान के लिए सेवाकार्य से ही प्रवंचितों को संपन्नता के स्तर पर लाया जायेगा। यह सत्व की परिधि में आने वाले सभी व्यक्तियों की सर्वाति महत्वपूर्ण आकांक्षा बन जायेगी, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के लिये सच्चा सरोकार सत्यनिष्ठा से ही फलीभूत होगा। विवेकानंद समानता के समर्थक के रूप में सामने आते हैं क्योंकि समानता ही स्वतंत्रता की चेतना वापस ला सकती है। उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद के अंतर को भी स्पष्ट किया। भौतिक साम्यवाद का आधारभूत उद्देश्य था भौतिक संपदा का समान वितरण। विवेकानंद को जो बात इसमें अच्छी लगी, वह थी समानता से इसका अतिश्य लगाव। फिर भी, वैसी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य को पदार्थ संयोजित के रूप में ही देखा जाता था। विवेकानंद आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षधर थे। इसकी आधारभूमि

बनता था, राजनीति पूर्व साम्यवाद जिसमें स्वतंत्रता और समानता का पूर्ण सामंजस्य होगा। इस प्रकार साम्यवादी समाज मानव सभ्यता के दोनों ही छोरों पर उपस्थित मिलता। समाज का आरंभ एक जैसे व्यक्तियों के निकाय के रूप में होता है। अस्थिरता, असंतुलन और आलोहन की स्थितियों से गुजरते हुए अंततः वह फिर समान व्यक्तियों के समुदाय का रूप लेता है। स्वतंत्रता पहले का अर्थ भाग बनती है, जबकि दूसरे में वह अनुपस्थित मिलती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) विवेकानंद के स्वतंत्रता पर विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिये।

.....
.....
.....
.....

17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा

विवेकानंद ने धार्मिकता पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धांत का निरूपण और विकास किया। उनके अनुसार, संगीत की ही भांति प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक "मुख्य सुर" एक केंद्रीय विषय होता है, जिसकी तुलना में अन्य कुछ भी गौण सिद्ध होता है। भारत की विषयवस्तु की पहचान उन्होंने धर्म के रूप में रखी और उसे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ बनाने के आधार पूर रखा जा सकता था। धर्म समकेन एवं सुस्थिरता की सृजनात्मक शक्ति रह चुका था और राजनीतिक प्राधिकार के क्षीण होने पर उसके पुनर्लाभ एवं सरवतीकरण में भी धर्म सहायक बना था। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक आदर्श के आधार पर राष्ट्रीय जीवन के संगठन का समर्थन किया। लेकिन उनकी अवधारणा के अंतर्गत धर्म अमानुषिक रीति-रिवाज़ों अथवा रूढ़ियों और कर्मकांडों का समुच्चय मान नहीं था। बल्कि धर्म अपने वास्तविक अर्थ में किन्हीं शाश्वत सिद्धांत/मूल्यों का साक्षात्करण था।

इस प्रकार के राष्ट्रवाद सिद्धांत के आधार पर विवेकानंद ने राष्ट्रवाद तथा राजनीति एवं सत्ता के संबंधों के बारे में अपनी अवधारणा का विकास किया। विवेकानंद की इस अवधारणा की बहुत कुछ समरूपता परिश्रम के अराजकतावादी चिंतन से है, जो किसी भी प्रकार की राजनीति अथवा सत्ता को संदिग्ध मानता था। उनकी अवधारणा में, भारत की राजनीति एवं सत्ता संबंध पाश्चात्य प्रभावों से जुड़े थे। उनके मतानुसार, भारत से परिचित प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध होना चाहिए कि "राजनीति, सत्ता और बौद्धिकता की गौण भूमिका है।" भारत में धर्म ही प्रमुख विचारणीय विषय है।" इसलिए उन्होंने संसद जैसी पाश्चात्य संस्थाओं का मखौल बनाया, उनका उल्लेख गुल-गपाड़े, दलगत राजनीति, पतनशील उन्माद एवं संकीर्णतावाद जैसे विशेषणों के साथ किया। राजनीतिक सत्ता से अति-संलग्नता, विशिष्ट रूप से पाश्चात्य राष्ट्रवाद, राजनीति और सत्ता संबंधों की ऐसी अवधारणा के ही अनुरूप था, विवेकानंद का व्यक्तिगत नैतिकता एवं सामाजिक परिवर्तन पर जोर। उनका पूर्ण विश्वास था कि राष्ट्रीय गौरव इसके नागरिकों को अंतर्निहित श्रेष्ठता, सुंदरता के कारण होता है, इसलिए नहीं कि राज्यसत्ता ऐसा चाहते हुए संबंधित उद्देश्यों से कोई कानून लागू करती है। इस प्रसंग में भी धर्म का अधिकाधिक महत्व सामने आता है क्योंकि वही जनगण के व्यक्तित्व एवं आचरण को ढालता है–उन्हें सुंदर और महान बनाता है। उनके विचारों के अनुसार, हिंदुत्व की आध्यात्मिक परंपरा, जाति व्यवस्था, सम्राटों और विदेशियों के जघन्य आतंक में प्रत्यक्ष होने वाले विधि-सम्मत उत्पीड़न के प्रतिरोध की मांग करती हैं।

इसलिए यह कोई अतिश्योक्ति नहीं कि विवेकानंद ने भारत में राजनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार को इस निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और वी.डी. सावरकर

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में उत्तर से मिलान करें।

1) राष्ट्रवाद से विवेकानंद का क्या तात्पर्य था?

.....

.....

.....

.....

17.4 वी. डी. सावरकर

17.4.1 जीवन-रेखा

वी.डी. सावरकर (मई, 1883 फरवरी, 1966)

एक उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी आतंकवादी नायक सावरकर बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों से प्रकाश में आए। 1906-1910 के बीच उन्होंने इंग्लैंड में शिक्षा ली और साथ ही, क्रांतिकारी क्रियाकलाप चलाया। इंग्लैंड में ही मादाम कामा, लाला हरदयाल और मदनलाल धींगरा जैसे अन्य क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। उन्हें पचास वर्षों के कारावास का दंड मिला। जिसके अनेक वर्ष उन्होंने अंडमान में बिताए। 1923 में उन्हें रतनगिरि लाया गया। 1937 में मुक्त होने पर उन्होंने डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी और बाद में हिंदू महासभा की सदस्यता ली।

17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार

सावरकर का राजनीतिक दर्शन भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केंद्रित था। भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक पहलुओं के सामंजस्य में रही है। उनका प्रबल तर्क था कि अधिसंख्यक हिंदुओं द्वारा अनुशरित धार्मिक व्यवस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या के विपरीत, यह हिंदुत्व अथवा जनमानस और चेतना में व्याप्त हिंदुत्व ही है जो भारत की राष्ट्रीयता के केंद्र भाग में स्थित है। इस प्रकार की अवधारणा में हिंदुत्व के अंतर्गत इस देश के अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक रूप से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। अपने विचार बिंदु पर बल देते हुए सावरकर ने लिखा था..... लाखों की संख्या वाले सिख, जैन, लिंगामत, अनेक समाजी और अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि वे—जिनके पूर्वजों की दसवीं पीढ़ी तक में हिंदुओं का रक्त संचारित हो रहा था—अब अचानक हिंदू नहीं रह गये हैं। अनेक रंगतों और मतमतांतर कला हिंदू धर्म जीवंत हैं और विकास कर रहे हैं और हिंदू संस्कृति के परिवेश में अपना अस्तित्व संजोए हुए हैं। हिंदुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश से जुड़ी हैं कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ भू बल्कि पुण्य भू भी है।

फिर वे इस बात पर बल देते हैं कि हिंदुस्तान में जन्में और पले होने के कारण इस देश के लिये उनकी समर्पण तथा उत्सर्ग भावना असीम थी। इसलिए, राष्ट्रवाद की समतुल्यता हिंदू अधिसंख्यक होने के कारण हिंदू ही राष्ट्र का स्वरूप निर्धारण करेंगे। ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन आदि अल्पसंख्यकों को हिंदुत्व के विकास को बढ़ावा देने के लिये बहुसंख्यक हिंदुओं से स्वतंत्र सहयोग करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में निमज्जित कर लेना चाहिए। हिंदू राष्ट्र की स्पष्ट पहचान को निरूपित करते हुए सावरकर ने चेतावनी दी कि क्षुद्र लाभों के लिए धर्म परिवर्तन करने वालों को इस पवित्र भूमि पर कोई स्थान नहीं मिलेगा। एक अन्य प्रसंग में उन्होंने राष्ट्रीय लक्ष्य में मुसलमानों तथा ईसाइयों की समान रूप से भागीदारी मानने से इंकार किया। राजनीतिक सत्ता में इसलिए वे ही साझादार हो सकते हैं, जिनकी भावनाएं इस भूमि में मूल हैं और जो इस देश को अपनी पुण्य भूमि मानते हैं (जैन, सिख, लिंगागत, समाजी

इत्यादि)। जहां तक कि नागरिक एवं राजनीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में सानुपातिक प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है, हिंदू एक एकीकृत भारत के निर्माण की प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों का सहयोग स्वीकार करने को तैयार होंगे। लेकिन वे समानता, विशेष बर्ताव तथा समान रूप से सत्ता में साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे, यद्यपि योग्यता के आधार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

तात्कालीन भारत में उभरती राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकता, कांग्रेस की समझौतापरस्त नीतियों और वृहत्तर इस्लामवाद के वर्चस्व को देखते हुए, सारवरकर ने कुछ विशेष कदम सुझाए:

1) नेतृत्व संघर्ष में नेतृत्व हथियाकर बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हिंदू समुदाय को सुसंगठित करने के लिये उन्होंने विस्तार से, मुगल शासकों को नियंत्रण में रखने संबंधी प्रयासों के लिये शिवाजी के गुणों और बुद्धिमता की प्रशंसा की।
2) पूर्ववर्ती हिंदुओं को पुनः हिंदू धर्म को परिधि में लाने के लिए शुद्धीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया। उनके विचार से यह गैर-हिंदुओं में कट्टरपंथियों को अलग-थलग कर देगा। बहुसंख्यक हिंदू समुदाय द्वारा उठाये गये ऐसे कदम भारत की संश्लिष्ट राष्ट्रीय संकृति को क्षतिग्रस्त करेंगे, जिसमें इस्लाम का भी योगदान है। लेकिन अधिकाधिक बढ़े हुए मुस्लिम जुझारूपन के सामने, उनकी दृष्टि में, कोई और विकल्प था भी नहीं।

अनेक सिद्धांत मसलों पर सावरकर का दृष्टिकोण निम्न उद्धरण में अच्छी तरह व्यक्त होता है:

"एक सच्चा हिंदू देश भक्त एक भारत राज का प्रेमी भी होता है। हिंदुस्तान उनकी पुण्यभूमि और मातृभूमि होने के कारण हिंदुओं का हिंदुस्तान के लिए प्रेम असीमित है। जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, उनकी परिभाषा, दरअसल बहुसंख्यक समुदाय के राष्ट्रीय साम्यवाद के रूप में की जा सकती है। हिंदुस्तान में हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले और संख्या में सर्वाधिक हिंदू ही हैं जो राष्ट्रीय समुदाय का संघ होते हैं और राष्ट्र के राष्ट्रवाद की रचना और सूत्रीकरण। विश्व के प्रत्येक देश में ऐसा ही है। अल्पसंख्यक अपनी अलग धार्मिक आस्था और सभ्यता बनाए रखते हुए बहुसंख्यक समुदायों के साथ सहयोग करते हैं और इन देशों के सार्व जीवन तथा प्रशासन में स्वयं को रचा बसा लेते हैं।"

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) सावरकर के राजनीतिक विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिए।

.....
.....
.....
.....

17.5 सारांश

इस इकाई में आपने उन्नीसवीं सदी भारत में हिंदू पुनरुत्थान के तीन अग्रणी व्यक्तियों – दयानंद सरस्वती, विवेकानंद और सावरकर के राजनीतिक तथा अन्य विचारों का अध्ययन किया है। धर्म और राजनीति के अंतः साक्ष्य के विशेष प्रसंग में उनके विचार आपको स्पष्ट किए गये। इससे आपको राजनीति तथा धर्म के अंतःसंबंधों पर अपने विचार ढालने में सहायता मिलेगी और समकालीन भारत की घटनाओं के बोध के लिए एक अंतर्दृष्टि।

स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और वी.डी. सावरकर

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

राय, लाजपत, **अ हिस्ट्री ऑफ आर्य समाज**, ओरियंट लांगमैन, 1967।

जोर्डन्स, जे.टी.एफ. दयानंद सरस्वती, **हिज़ लाइफ ऐंड आईडयाज**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978।

पंथम, थॉमस और डौयश, के.एल (संपा), **मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट**, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1986।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें भाग 17.2 और उपभाग 17.2.1 और 17.2.2

बोध प्रश्न 2

देखें उपभाग 17.2.2

बोध प्रश्न 3

देखें उपभाग 17.3.1

बोध प्रश्न 4

देखें उपभाग 17.3.2

बोध प्रश्न 5

देखें भाग 17.4 और उपभाग 17.4.1 और 17.4.2

इकाई 9 श्री अरबिंदो का राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 श्री अरबिंदो : उनका जीवन और कृतित्व
  9.2.1 प्रारंभिक जीवन-निर्माण का दौर
  9.2.2 तैयारी का दौर
  9.2.3 राजनीतिक सक्रियता का दौर
  9.2.4 बाद का दौर–1910 के बाद के वर्ष
9.3 श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद
9.4 राजनीतिक चिंतन : प्रारंभिक दौर
  9.4.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर श्री अरबिंदो के विचार
  9.4.2 अंग्रेज़ी राज की प्रकृति
  9.4.3 राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत
  9.4.4 अंतिम लक्ष्य–स्वराज
  9.4.5 राजनीतिक कार्यवाही का सकारात्मक कार्यक्रम
9.5 दूसरा दौर–1910 से बाद के वर्ष
  9.5.1 मानव समाज का उद्विकास
  9.5.2 मानव एकता की प्रकृति
9.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन
  9.6.1 राष्ट्रवाद का सिद्धांत–आध्यात्मिक या धार्मिक
  9.6.2 राजनीतिक मुद्दों पर ज़ोर
  9.6.3 श्री अरबिंदो : अराजकतावादी/आतंकवादी
9.7 सारांश
9.8 उपयोगी पुस्तकें
9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन और भारत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम और आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान पर विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप :

- उनके चिंतन को ढालने के लिए ज़िम्मेदार कारकों को गिना सकें,
- उनके चिंतन की दार्शनिक बुनियादों का विश्लेषण कर सकें,
- राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के उद्देश्य, राजनीतिक कार्यवाही के उनके सकारात्मक कार्यक्रम, मानव एकता आदि पर उनके विचारों का विवरण दे सकें, और
- स्वतंत्रता आंदोलन में एक चिंतक और कार्यकर्त्ता के रूप में उनकी भूमिका का मूल्यांकन कर सकें।

9.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक और बीसवीं शताब्दी का पदार्पण आधुनिक भारत के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस दौरान, धार्मिक-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पश्चिम की

प्रेरणा वाले उदारवाद और अंग्रेज़ी राज के विरोध में एक सशक्त शक्ति के रूप में भरकर आया। बंगाल में रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद और पंजाब में स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय परंपरा में रुचि के पुनर्जागरण का नेतृत्व किया। इस आंदोलन का परिणाम भारतीय युवाओं में गर्व की भावना भरने के उद्देश्य से भारतीय परंपरा की फिर से विवेचना करने के प्रयास के रूप में सामने आया। इस आंदोलन का एक और पहलू था, इसका क्रांतिकारी राजनीतिक दृष्टिकोण। इन दो पहलुओं ने एक दूसरे को मज़बूत किया। श्री अरबिंदो भारतीय राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक बुनियाद देने वाले, इस नेतृत्व परंपरा के सबसे बढ़िया उदाहरण हैं। इस इकाई में श्री अरबिंदो के जीवन और उनके चिंतन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों की झांकी प्रस्तुत की गई है। इसके बाद, हमने राष्ट्रवाद पर उनके विचारों की दार्शनिक बुनियादों, उनके द्वारा निर्धारित राजनीति कार्यवाही की दिशा और स्वराज का विश्लेषण किया है। अंत में भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

9.2 श्री अरबिंदो : उनका जीवन और कृतित्व

श्री अरबिंदो का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता में हुआ था। उनका जीवन घटनाओं से पूर्ण रहा और उन्होंने दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में भरपूर योगदान दिया। उनके जीवन काल को चार दौरों में बांटकर उसका अध्ययन किया जा सकता है :

9.2.1 प्रारंभिक जीवन-निर्माण का दौर

अरबिंदो का पालन-पोषण पूरी तौर पर पश्चिमी ढंग से हुआ। चौदह साल (1879 से 1873) तक उन्होंने इंग्लैंड में पढ़ाई-लिखाई की। इस दौरान, उन्होंने असाधारण बौद्धिक योग्यता दिखाई। उन्होंने कई प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय भाषाएं सीखीं। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान वह भारतीय राजनीति में रुचि लेने लगे और भारत के कुछ युवा क्रांतिकारियों के संपर्क में आये। उन पर आयरिश राष्ट्रवादियों और आयरलैंड की आज़ादी के लिए उनके प्रयासों का भी गहरा असर पड़ा। वह 1893 में 21 वर्ष की उम्र में अपने सीने में राष्ट्रवाद की धधकती आग और इसके लिए काम करने की दृढ़ इच्छा किये भारत लौटे।

9.2.2 तैयारी का दौर

भारत आकर उन्होंने बड़ौदा रजवाड़े में सरकारी नौकरी कर ली। बड़ौदा में उन्होंने भारतीय इतिहास, दार्शनिक ग्रंथों और बंगाली साहित्य का गहन अध्ययन किया। वह भारतीय दर्शन और साहित्य में छिपे आध्यात्मवाद से प्रभावित हुए और उससे उनके राजनीतिक चिंतन में एक नया आयाम जुड़ा। इस दौरान, अरबिंदो ने देश की उस समय की हालत पर काफी कुछ लिखा और राष्ट्र, राष्ट्रवाद आदि पर अपने विचारों को विस्तार से सामने रखा। वह सामान्य तौर पर स्वतंत्रता आंदोलन और विशेष तौर पर बंगाल में चल रही क्रांतिकारी गतिविधियों के संपर्क में भी रहे। फिर भी क्रांतिकारी राजनीति में अपनी रुचि के कारण वह अपनी आध्यात्मिक खोज से दूर नहीं रहे।

9.2.3 राजनीतिक सक्रियता का दौर

वर्ष 1905 में बंगाल का बंटवारा हो गया। इस घटना से देश भर में गहरा क्षोभ फैल गया। अरबिंदो ने बड़ौदा की अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया (1906) और वह सक्रिय राजनीति में कूद पड़े, जिसके साथ उनके जीवन के तीसरे दौर की शुरुआत हुई। राजनीतिक सक्रियता का यह दौर बहुत संक्षिप्त (1906-1910) रहा। इस दौर में, उन्होंने राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया और तिलक के नेतृत्व वाले क्रांतिकारी समूह को अपना समर्थन दिया। उन्होंने कांग्रेस के सरल अधिवेशन में हिस्सा लिया। उन्होंने इस दौर में राष्ट्रीय महत्व के विभिन्न विषयों पर जम कर लिखा। 1908 में, उन्हें मानिकटोला बम कांड में फंसाकर गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें 1909 में, बाइज्जत बरी कर दिया गया। छूटने के बाद, वह कुछ समय राजनीति में बने रहे। 1910 में, वह सक्रिय राजनीति से हट

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

गए, वह चंद्र नगर चले गये और वहां से पौंडिचेरी आ गये। सक्रिय राजनीति से उनका अचानक हट जाना आध्यात्मिक विकास के प्रति उनकी इच्छा का परिणाम था।

9.2.4 बाद का दौर–1910 के बाद के वर्ष

इस दौर में, अरबिंदो ने मुख्य तौर पर मानवता और उसके आध्यात्मिक विषय के व्यापक संदर्भों में लेखन किया। उन्होंने मानव विकास और इसके मानव एकता के अंतिम लक्ष्य के संदर्भ में अपने विचारों और विचारधाराओं को विस्तार से सामने रखा। "लाइफ डिवाइन," "एसेज़ ऑन गीता," "द सिंथेसिस ऑफ योग" जैसे उनकी महत्वपूर्ण कृतियां इसी दौर में लिखी गयीं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी राजनीतिक सक्रियता और आध्यात्मिक विकास अलग-अलग नहीं, एक दूसरे से जुड़े थे। उनका राजनीतिक चिंतन उनकी यौगिक और आध्यात्मिक दृष्टि का ही विस्तार था। इसलिए, राजनीति की प्रमुख अवधारणाओं पर उनके विचारों का अध्ययन करने से पहले, उन दार्शनिक बुनियादों को समझना आवश्यक है, जिनसे उनका राजनीतिक चिंतन उभरा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक कौन से हैं?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये :

i) श्री अरबिंदो ने इंग्लैंड में.....का अध्ययन किया।
क) प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय भाषाओं
ख) भारतीय साहित्य
ग) ईसाई धर्मशास्त्र

ii) भारत लौटकर उन्होंने..... से संपर्क किया।
क) उदारवादी नेताओं
ख) बंगाल के क्रांतिकारियों
ग) भारतीय राजकुमारों

iii) श्री अरबिंदो ने.....में सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया।
क) 1893
ख) 1901
ग) 1906

iv) बाद के दौर में श्री अरबिंदो ने मुख्य तौर पर.....के संदर्भ में लिखा।
क) मानव एकता
ख) स्वतंत्रता संग्राम
ग) विश्व युद्धों

9.3 श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद

अरबिंदो के लेखन में विविध प्रभावों की झलक देखने को मिलती है। इनमें से दर्शन में आदर्शवाद की भारतीय परंपरा का उनपर सबसे अधिक प्रभाव दिखायी देता है। उनके

निर्माण या तैयारी के दौर में उन पर होमर से लेकर गेटे तक के यूरोपीय दार्शनिकों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा और उनके राजनीतिक चिंतन पर गीता, उपनिषदों और वेदांत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा। जैसा कि रोम्यां रोलां ने कहा, श्री अरबिंदो "एशिया की प्रतिभा" (जीनियस) और यूरोप की प्रतिभा का सबसे उत्कृष्ट जोड़ थे। उन्होंने पश्चिमी दर्शन को आदर्शवादी परंपरा से मिलाने का प्रयास किया। रामकृष्ण और विवेकानन्द ने जिस वेदांत दर्शन का प्रतिपादन किया था, उसका भी अरबिंदो के चिंतन पर प्रभाव पड़ा। उन्हें भारत की बौद्धिक परंपरा की असाधारण विविधता और तेजस्विता या स्थायी प्रकृति से भी प्रेरणा मिली। उनका विश्वास था कि वेदांत के साधुओं और बुद्ध के लेखों में भारतीय मन की प्रतिमा का प्रतिबिंब देखने को मिलता है। लेकिन, उनके अनुसार, बाद में जाकर भारत की दार्शनिक परंपरा अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण हो गयी और अपनी गतिमयता और सक्रियता खो बैठी। जबकि, इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन ने अपनी गतिमयता को बनाये रखा और उसका विकास होता रहा। अरबिंदो भारत और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा के सर्वोत्तम तत्वों को मिलाना चाहते थे।

उन्होंने अपने उद्विकास के सिद्धांत में इस विश्व की उत्पत्ति, प्रकृति और नियति की व्याख्या की। उनके सृजन के सिद्धांत के अनुसार, पदार्थ विकास के कई चरणों से होकर निकलता है, वनस्पति और जंतु के चरणों से मन और महामन के चरणों तक। उनकी दृष्टि में पदार्थ आत्मा का छिपा रूप है, जो प्रगतिशील ढंग से आत्मा के उजागर होने की स्थिति की ओर विकास करती है, जो सर्वोत्तम, उन्मुक्त और परम यथार्थ है। उद्विकास की इस प्रक्रिया में, मन से महामन की ओर परिवर्तन में, योग की तकनीक इस प्रक्रिया को तीव्र करने में मानव की मदद करती है। श्री अरबिंदो ने "आंतरिक योग" या "पूर्ण योग" के नाम से अपनी तकनीक का विकास किया, जिसमें चार योगों—अर्थात् कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, और राज योग—की तकनीकों और तांत्रिक दर्शन का समावेश है। इस आंतरिक योग के माध्यम से कोई योगी महामानसिक स्तर तक उठ सकता है, जिससे आनंद की प्राप्ति होगी। आनंद की प्राप्ति से व्यक्ति को आत्मज्ञान और मानव सेवा में मदद मिलती है।

उनके अनुसार पदार्थ क्योंकि आत्मा से भिन्न नहीं होता, इसलिए पदार्थ का क्रमिक उद्विकास होने से वह शुद्ध आत्मा में बदल जाएगा। मार्ग में इस प्रक्रिया को धीमा करने वाली बाधाओं के बावजूद आत्मिक पूर्णता की दिशा में मानवता की प्रगति चलती रहेगी। इस प्रक्रिया में, कुछ विकसित आत्माएं मार्गदर्शक का काम करेंगी और दूसरों के लिए मार्ग ढूंढने को कड़ा संघर्ष करेंगी। अरबिंदो का विश्वास था कि भारत की आत्मिक चिंतन और व्यवहार की परंपरा बहुत उन्नत है और पूरी मानवता अपनी आध्यात्मिक यात्रा में इसका लाभ उठा सकती है। वह चाहते थे कि भारत इस क्षेत्र में नेतृत्व करे और इसीलिए उनका सोचना था कि भारत को स्वतंत्र होना चाहिए जिससे वह विश्व के आध्यात्मिक पुनरुद्धार में अपनी सही भूमिका निभा सके।

9.4 राजनीतिक चिंतन : प्रारंभिक दौर

अरबिंदो के लेखन की बारीकी से जांच करने से पता चलता है कि उन्होंने अपनी राजनीति गतिविधि के प्रारंभिक दौर में विद्यमान राजनीतिक महत्व के मसलों पर व्यापक रूप से लिखा। उस समय उनके राजनीतिक चिंतन में निम्न बातें शामिल थीं:

- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारत में अंग्रेज़ी राज के बारे में उनके विचार
- राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत
- उनका कार्यवाही कार्यक्रम—निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धांत आदि।

इस दौर के उनके लेखों को हमारे देश की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों की राजनीतिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा जाना चाहिए। उनका उद्देश्य जनसाधारण को विदेशी शासकों के खिलाफ संघर्ष के लिए जागृत करना और उनका अंतिम लक्ष्य देश के लिए पूर्व स्वतंत्रता प्राप्त करना था।

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

बाद के दौर में, अर्थात् 1910 से बाद के वर्षों में, अरबिंदो के विचारों में मानवता के लिए जीवन के आध्यात्मिक प्रयोजनों की आवश्यकता की स्पष्ट छवि दिखायी देती है। इस अनुच्छेद में, हम उनके चिंतन पर ध्यान केंद्रित करेंगे, जिनकी अभिव्यक्ति उनके जीवन के प्रारंभिक दौर (1883-1905) में और उनकी राजनीतिक गतिविधि के पहले दौर (1905-1910) में हुई। बाद में हम मानव एकता पर उनके विचारों का अध्ययन करेंगे।

9.4.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर श्री अरबिंदो के विचार

इंग्लैंड से लौटने पर श्री अरबिंदो ने भारत की राजनीतिक स्थिति को देखा और 'बंदे मातरम्' जैसी पत्रिकाओं में लेख लिखकर अपने विचार व्यक्त किये। उस समय वह कांग्रेस संगठन और उसके नेताओं के आलोचक थे। उन्होंने चार बातों के लिए कांग्रेस की आलोचना की–अर्थात् i) इसके लक्ष्य और उद्देश्य, ii) इसका संगठन, iii) नेताओं के उद्देश्य और iv) उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन द्वारा अपनाये गये तरीके। इसका यह मतलब नहीं है कि वह बुनियादी तौर पर कांग्रेस के विरोधी थे। इसके विपरीत उन्होंने तो यह ऐलान किया कि ''कांग्रेस हमारे लिये वही थी जो मनुष्य के लिए सबसे प्रिय, सबसे ऊंची और सबसे पवित्र वस्तु होती है।'' लेकिन इसी के साथ-साथ, उन्होंने इसके कामों को लेकर अपने मोहभंग और असंतोष को व्यक्त करने में भी कोई हिचक नहीं दिखायी।

कांग्रेस संगठन के ध्येयों और उद्देश्यों को लेकर उनका सोचना यह था कि कांग्रेस के पास 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। कांग्रेस के नेता कुछ प्रशासनिक सुधार जैसी छोटी-मोटी बातों पर अपना समय नष्ट कर रहे थे, जोकि समय की मांग को पूरा करने में बिल्कुल अपर्याप्त थे। अरबिंदो के अनुसार कांग्रेसी नेताओं की मांगें, 'शर्मनाक ढंग से संकोची' थीं।

कांग्रेस के संगठन के बारे में, उनका सोचना था कि कांग्रेस एक मध्यम वर्गीय संगठन है। नये पढ़े-लिखे मध्यम वर्गीय नेता केवल सत्ता और भारतीय राजतंत्र में स्थान पाने में दिलचस्पी रखते थे। अरबिंदो ने राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ी संख्या में सर्वहारा वर्ग के लोगों को शामिल कर उसे एक जन आंदोलन का रूप देने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर भारतीय सर्वहारा का उदय कांग्रेस को एक सचमुच राष्ट्रीय और जनप्रिय संगठन का रूप देने की समस्या को सुलझाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक होगा।

तीसरे, कांग्रेसी नेताओं के उद्देश्यों के बारे में उनका सोचना यह था कि वे निष्ठावान नेता नहीं थे। वे दब्बू थे और अपने शासकों को नाराज़ करने से डरते थे। उनका विश्वास था कि संगठन के इन दोषों ने देश के राष्ट्रीय आंदोलन पर उल्टा असर डाला था।

वह सोचते थे कि कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजी राज को सही ढंग से नहीं देखा या समझा और इसलिए अपने लक्ष्य को हिम्मत के साथ सामने रखने के बजाय, ये नेता, अंग्रेज़ी शासकों की उदारता और न्याय-भावना पर भरोसा करते रहे। वे कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों या सभाओं में व्यर्थ के आवेदनों, निवेदनों आदि का सहारा लेते रहे।

इसलिए अरबिंदो ने एक व्यापक आधार वाले संगठन की आवश्यकता पर बल दिया, जो देश की समूची ताकत को इसे विदेशी शासन से मुक्त कराने में लगा सके। इस तरह जनसाधारण में स्वाधीनता की भावना भरने पर उनका बल देना, स्वतंत्रता आंदोलन को एक जनआंदोलन का रूप देने की दिशा में पहले प्रयासों में से एक था।

9.4.2 अंग्रेज़ी राज की प्रकृति

आंग्ल-मराठी अखबार ''इंदु प्रकाश'' में लिखे अरबिंदो के पहले राजनीतिक लेख अंग्रेज़ी राज पर सीधा प्रहार थे। बेशक, राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने वाले कुछ नेता भी उस समय अंग्रेज़ी राज की आलोचना कर रहे थे, लेकिन उनकी अलोचना अप्रत्यक्ष थी। अरबिंदो के लेख इस तरह की आलोचना से हटकर थे। उन्होंने देश में ऐसी सनसनी फैला दी कि न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे को इंदु प्रकाश के संपादक को अरबिंदो से यह अनुरोध

करना पड़ा कि वह अपने तेवर में नरमी लायें, जिस पर अरबिंदो ने अनिच्छा से अमल किया।

अरबिंदो दो उद्देश्यों से अंग्रेजी राज की आलोचना करते थे। पहले, वह देश में अंग्रेज विरोधी भावनाओं को मज़बूत करना चाहता थे, और दूसरे, वह अंग्रेजों की श्रेष्ठता की भ्रांति को तोड़ना चाहते थे।

उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि जैसा भारतीय बुद्धिजीवी समझते थे, अंग्रेज़ी राजनीतिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ नहीं थी। वह सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के न होने की आलोचना करते थे। इसलिए, वह यह मानते थे कि अंग्रेजी व्यवस्था की नकल करना हमारे देश के हित में नहीं है। भारत में अंग्रेजी राज की प्रकृति के बारे में उनका विचार यह था कि "बुनियादी तौर पर यह व्यापारिक है और चरित्र से शोषक।" इसलिए इसकी बुनियाद को ही कमज़ोर किया जाना चाहिए, जिससे देश के लिए स्वतंत्रता और स्वाधीनता हासिल की जा सके।

अरबिंदो अंग्रेज़ अफसरों के व्यवहार को रूखा और अशिष्ट बताते थे। उनका मानना था कि अंग्रेज़ों ने भारत में जो प्रशासनिक व्यवस्था कायम की थी, वह भारतीय जनता, उनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, उनके मन और प्रतिभा के बिल्कुल अनुपयुक्त थे। वह अंग्रेज़ियत में रंगे उन भारतीयों की भी आलोचना करते थे, जो अंग्रेज़ी जीवन शैली और संस्कृति को अपनाने के काबिल समझते थे।

लेकिन, उन्हें अंग्रेज़ों के अनुभव से सीखने पर कोई ऐतराज नहीं था। वैसे वह यूरोप के विचारों और विचारधाराओं की बिना सोचे समझे नकल करने के खिलाफ है। उन्हें भारतीयों में अपने अतीत को अनदेखा करने और भविष्य की कोई स्पष्ट ध्वनि न होने पर एतराज था।

9.4.3 राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत

अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा पर महान बंगाली उपन्यासकार बंकिमचंद्र का गहरा प्रभाव था। उनका यह मानना था कि राष्ट्र केवल एक भूमि का टुकड़ा या मनुष्यों का समूह नहीं है। न तो यह कोई अलंकार है और न ही मन की उपज। यह एक भौगोलिक इकाई या लोगों की कल्पना से भी बढ़कर है। इस तरह, अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा गहरी और राष्ट्र के बारे में आम राष्ट्रभक्त धारणाओं से बहुत भिन्न है।

उनके लिए भारत उनकी मां समान था और इसलिए वह पूरी तौर पर उसके प्रति समर्पित थे। वह भारत को मां देवी की तरह महिमामंडित करते थे और युवा राष्ट्रभक्तों को यह सलाह देते थे कि वे अपने राष्ट्र के लिए काम करें जो उनकी मां है। वह मानते थे कि मातृभूमि को मुक्त कराना उसके बच्चों का सबसे पहला कर्त्तव्य है, जिसके लिए उन्हें अपनी जान तक कुर्बान करने को तैयार रहना चाहिए। जैसे कि अरबिंदो ने समझा, राष्ट्र एक ज़बरदस्त शक्ति है जो राष्ट्र निर्माण करने वाली लाखों इकाइयों की शक्ति से बनी है। इस तरह यह एक जीती-जागती सत्ता है। उन्होंने अनेक लेखों और कविताओं में मातृभूमि के प्रति प्रेम और समर्पण की अपनी गहरी भावना को व्यक्त किया। उनका विश्वास था कि इस तरह की राष्ट्रभक्ति से चमत्कार हो सकते हैं। इस तरह अरबिंदो की राष्ट्रवाद की परिभाषा में एक आध्यात्मिक आयाम था, जो राष्ट्रवाद शब्द की आम राष्ट्रभक्त समझ से भिन्न था।

अरबिंदो के विचार में राष्ट्रवाद केवल एक राजनीतिक आंदोलन नहीं है। न तो यह कोई राजनीतिक कार्यक्रम है और न ही बुद्धिजीवियों के समय काटने का कोई मनोरंजन। उनके विचार में, राष्ट्रवाद धर्म के बराबर है। यह एक धर्म और एक मत है जिसे व्यक्ति को जीना चाहिए। यह ईश्वर का दिया हुआ धर्म है। इसलिए इसे कुचला नहीं जा सकता। अगर बाहरी ताकतें लगाकर इसे दबाने की कोशिश भी की जाती है तो, अपने अंदर ईश्वर की शक्ति होने के कारण यह फिर उभर आता है और जीवित रहता है। राष्ट्रवाद अमर है। यह मर नहीं सकता क्योंकि इसे मनुष्य ने नहीं, ईश्वर ने बनाया है। अगर कोई व्यक्ति राष्ट्रवादी होना चाहता है, तो उसे अपने राष्ट्र के लिए काम करना चाहिए। उनकी राय में राष्ट्रवाद एक गहरी और भक्तिपूर्ण धार्मिक साधना है। यही अरबिंदो की राष्ट्रवाद की

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

अवधारणा और उनके समय के दूसरे चिंतकों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की राष्ट्रवाद की अवधारणा का अंतर है।

बंगाल के बंटवारे ने जिस राष्ट्रवादी आंदोलन की चिंगारी भड़कायी, वह अरबिंदो की राय में ईश्वर की प्रेरणा और मार्गदर्शन वाला आंदोलन था। उनकी राय में इस आंदोलन का मार्गदर्शन किसी राजनीतिक आत्म हित के हाथ में नहीं था, बल्कि यह एक धार्मिक उद्देश्य था जिसे पूरा करने की कोशिश लोग कर रहे थे। इस तरह उनके लिए राष्ट्रवाद एक धर्म है जिसके जरिये लोग ईश्वर को अपने राष्ट्र में अपने देशवासियों में मूर्त करने की कोशिश करते हैं।,

9.4.4 अंतिम लक्ष्य–स्वराज

विदेशी प्रभुत्व से भारत की मुक्ति अरबिंदो का अंतिम लक्ष्य था। स्वराज, अर्थात् भारतीयों द्वारा स्वशासन प्रकृति से केवल आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं था। मानवता के उत्थान को समर्पित भारत के आध्यात्मिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था। अरबिंदो ने निम्न कारणों से भारत की स्वाधीनता की वकालत की :

- स्वतंत्रता बौद्धिक, नैतिक, वैयक्तिक और राजनीतिक हर प्रकार के तर्कसंगत विकास के लिए अनिवार्य है, इसलिए यह अपने आप में राष्ट्रीय जीवन की एक आवश्यकता है। इसलिए केवल स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता हासिल करने का प्रयास भी निरर्थक नहीं था।
- दूसरे मनुष्यों के विकास की प्रक्रिया में आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति भौतिक उन्नति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अरबिंदो की राय में, आध्यात्मिक प्रगति वाले भारत की यह नियति है कि वह दुनिया की प्रगति का नेतृत्व करे और इसलिए भी भारत को स्वतंत्र होना चाहिए।
- भारत अच्छे ढंग से और खुशहाल रहे, इसके लिए भी आवश्यक था कि भारत में स्वराज हो। इसके लिए यह आवश्यक था कि भारतवासी गुलामों की तरह नहीं, बल्कि आज़ाद लोगों की तरह रहकर मनुष्य जाति के आध्यात्मिक और बौद्धिक लाभ के लिए काम करें।

अरबिंदो के जीवन के प्रारंभिक चरण में उनके चिंतन और गतिविधियों पर राष्ट्रवाद की जो अवधारणा प्रमुख रूप से विद्यमान थी, वह मनुष्य जाति की एकता की दिशा में ले जाने वाली एक सीढ़ी मात्र थी। मनुष्य जाति की इस एकता को वह प्रकृति की अंतिम योजना और मानव विकास का अनिवार्य लक्ष्य मानते थे। (इस बिंदु पर अनुच्छेद 10.5 में विस्तार से चर्चा की गयी है।) राष्ट्रीय स्वाधीनता के इस लक्ष्य को पाने के लिए उन्होंने कुछ तरीके समझाये। राजनीतिक गतिविधियों से उनका जो थोड़े समय का जुड़ाव रहा उसमें उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही की जो योजना रखी उस पर हम विस्तार से बात करेंगे।

9.4.5 राजनीतिक कार्यवाही का सकारात्मक कार्यक्रम

वर्ष 1906 में अरबिंदो ने अपनी बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। इसी दौर में उन्होंने उन राजनीतिक तरीकों के बारे में सोचा और लिखा जिन्हें अंग्रेजों के खिलाफ अपनाया जाना था। उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही का जो मार्ग सुझाया, उसके दो सैद्धांतिक आधार थे। अंग्रेज़ी प्रभुत्व से पूरी स्वतंत्रता उनका अंतिम लक्ष्य था और उनका मानना था कि इसे विदेशी मालिकों की दया की दुहाई देकर हासिल नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए लाखों भारतवासियों की असीम शक्ति को सही दिशा में इस्तेमाल करना आवश्यक था।

अरबिंदो के अनुसार, जनता की आंतरिक शक्ति और बल के इस अपार भंडार को सही दिशा देने के लिए विभिन्न किस्म की राजनीतिक कार्यवाहियों का सहारा लिया जा सकता था, अर्थात् 1) क्रांतिकारी संगठन बनाकर उनके जरिये गुप्त क्रांतिकारी प्रचार किया जाये। इस कार्यवाही का लक्ष्य एक हथियारबंद विद्रोह की तैयारी करना था। 2) दूसरे, लेखों, भाषणों, जनसंपर्क आदि के जरिये विदेशी शासन के खिलाफ लगातार प्रचार किया जाए। उस समय बहुत से लोग इसे एक असंभव योजना मानते थे क्योंकि उनकी राय में ब्रिटिश

साम्राज्य इतना मज़बूत था कि उसे ऐसी तरकीबों से हिलाना असंभव था। 3) तीसरे, विभिन्न संगठनों के जरिये जनसाधारण को जागृत करके असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध जैसे तरीकों से विदेशी शासन का खुला और पूरा विरोध किया जाए। अरबिंदो ने इन तीनों ही तरीकों को आजमाया। जब वह बड़ौदा में थे, उस समय भी उनके संपर्क बंगाल और महाराष्ट्र के क्रांतिकारी संगठनों से थे। उन्होंने बड़ौदा सेना में अपने बंगाली संपर्कों के जरिये गुप्त टोलियां बनाने की कोशिश की। उसी समय उन्होंने तिलक जैसे क्रांतिकारी कांग्रेस नेताओं से सम्पर्क बढ़ाया और कांग्रेस में नरमपंथियों के असर को कम करने में उनका साथ दिया। बंगाल के बंटवारे के बाद की राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति में, उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीकों का आयोजन और प्रचार किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके की उनकी वकालत नरमपंथी नेताओं के संवैधानिक तरीकों से उनके मोह भंग का परिणाम था। वह प्रस्ताव पारित करने, आवेदन भेजने और अंग्रेजी शासकों के साथ बातचीत करने जैसे तरीकों के खिलाफ थे। इसकी जगह वह विदेशी सामान का बहिष्कार, शासकों के साथ असहयोग आदि जैसे तरीकों की वकालत करते थे। उनकी दृष्टि में उस समय ये ही तरीके सबसे उपयुक्त थे, क्योंकि भारतीयों पर शासन ऐसे शासकों का था जो अवाम की मांगों के प्रति संवेदनरहित और अत्याचारी थे।

इस तरह, उन्होंने जिन तरीकों की वकालत की, वे नैतिक या आध्यात्मिक न होकर अत्यंत व्यावहारिक राजनीतिक उपाय थे। इन तरीकों को अपनाते समय बल प्रयोग को वह अस्वीकार नहीं करते थे। हिंसा अरबिंदो के लिए निषेध नहीं थी। परिस्थितियों की मांग लेने पर बल और हिंसा का इस्तेमाल औचित्यपूर्ण था। गांधी जी के सविनय प्रतिरोध के तरीके और अरबिंदो के निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच यही अंतर था। गांधी जी हिंसा को अनैतिक मानते थे और इसलिए उनकी दृष्टि में यह हानिकर और अवांछनीय थी। वह इसे नैतिक कायरता से दूषित मानते थे और यह भी मानते थे कि जिस लक्ष्य को पाने के लिए इसका इस्तेमाल होना था, उससे इसका मेल नहीं बैठता। लेकिन अरबिंदो के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक व्यापक कार्यक्रम था।

कार्यवाही का कार्यक्रम

अंग्रेज शासकों के निरंकुश और दमनकारी उपायों का प्रतिरोध करने के लिए कार्यवाही का जो कार्यक्रम प्रस्तावित था, बहिष्कार उसका प्रमुख महत्वपूर्ण अंग था। इस संदर्भ में 'बहिष्कार' का अर्थ था ऐसा कोई भी काम करने से संगठित रूप से इंकार करना जिससे अंग्रेज अफसरों को प्रशासन चलाने में मदद मिले। यह असहयोग तब तक चलना था जब तक अवाम की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती। बहिष्कार के इस तरीके को कार्यक्रम के अग्रिम मोर्चे पर रखने का उद्देश्य विद्यमान स्थितियों में प्रशासन को असंभव बनाना था। बहिष्कार का मुख्य निशाना अंग्रेज़ी सामान था, क्योंकि अंग्रेज़ी शासकों के हाथों आर्थिक शोषण को तुरंत रोकना था। अरबिंदो का यह विश्वास था कि अगर यह हो गया तो, इसके परिणामस्वरूप अंग्रेज़ी साम्राज्य ध्वस्त हो जाएगा।

अंग्रेज़ी ढंग की शिक्षा का बहिष्कार इस कार्यक्रम का एक और अंग था। इस शिक्षा पद्धति की बुनियादें राष्ट्र विरोधी और दोषपूर्ण थीं, इस पर पूरी तरह से सरकार का नियंत्रण था और इसका इस्तेमाल शासक अपने प्रति निष्ठा बनाने और राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को हतोत्साहित करने के लिए कर रहे थे। इस कार्यक्रम में सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों का बहिष्कार शामिल था और इसका उद्देश्य ऐसी राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं और शिक्षा पद्धति की स्थापना करना था जिसका लक्ष्य देश के युवाओं में देश की समस्याओं के प्रति जागरुकता, राष्ट्र के प्रति प्रेम और मानसिक तैयारी का वातावरण बनाना था, जिससे वे विदेशी ताकत के प्रभुत्व के खिलाफ लड सकें। इस कार्यक्रम में अंग्रेजी ढंग की न्यायिक व्यवस्था के बहिष्कार की भी वकालत थी। इस व्यवस्था को पक्षपातपूर्ण, महंगा, शासकों के राजनीतिक लक्ष्यों के अधीन और इस देश की जनता के लिए विनाशकारी माना गया। न्याय करने का ढंग अफसरशाही होने के लिए इसकी आलोचना की गयी।

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

अंतिम, इस कार्यक्रम में प्रशासन का बहिष्कार भी शामिल था। अधिशासी (या कार्यकारी) और प्रशासनिक तंत्र के बारे में यह माना गया कि वह निर्मम, दमनकारी, मनमाना, हस्तक्षेप करने वाला और अनावश्यक रूप से कुतूहल रखने वाला था। बहिष्कार का उद्देश्य इस प्रशासनिक तंत्र का ढांचा भर रहने देने का था, जिससे शासक इस देश के असहाय जनसाधारण को शोषित और तंग करने के अपने प्रयासों में इसका इस्तेमाल न कर पाये।

अरबिंदो इस बात को पूरी तरह से जानते थे कि देश के लिए व्यवस्था और अनुशासन महत्वपूर्ण थे। बहिष्कार की वकालत करते समय, उन्होंने इस बात की वकालत भी की थी कि विद्यमान व्यवस्था का स्थान लेने के लिए वैकल्पिक प्रबंध भी किये जायें। इस कार्यक्रम को वह आत्म-विकास की योजना मानते थे और उनका विश्वास था कि अगर लोगों ने दृढ़ता से इन तरीकों को लागू कर लिया, तो अंग्रेज़ी राज को चुटकियों में खत्म किया जा सकता था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से करें।

1) उन चार बिंदुओं को संक्षेप में लिखें जिनके आधार पर अरबिंदो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की आलोचना करते थे।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा को संक्षेप में समझायें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्न वक्तव्य सही हैं या गलत बताएं:

i) अरबिंदो अंग्रेज़ी राज की इसलिए आलोचना करते थे, क्योंकि वह अंग्रेज़ विरोधी भावनाओं को मज़बूत करना चाहते थे। (सही/ग़लत)

ii) राष्ट्रवाद अनैतिक है, इसलिए इसे कुचला नहीं जा सकता। (सही/गलत)

iii) निष्क्रिय प्रतिरोध का अर्थ है शासकों के खिलाफ प्रस्ताव पारित करके उनका विरोध करना। (सही/गलत)

iv) अरबिंदो हिंसा को निषेध मानते थे और अहिंसक तरीकों की वकालत करते थे। (सही/गलत)

v) बहिष्कार का उद्देश्य प्रशासन के क्रियाकलाप को असंभव करना था। (सही/गलत)

9.5 दूसरा दौर–1910 से बाद के वर्ष

हम पहले ही बता चुके हैं कि अरबिंदो ने 1910 में नाटकीय ढंग से राजनीति छोड़ दी और पौंडिचेरी चले गये। ऐसा उन्होंने रहस्यात्मक अनुभवों के जरिये अपनी अंतरात्मा की लगातार पुकार के बाद किया। इस दौर के उनके लेख मुख्य रूप से दार्शनिक प्रकृति के हैं,

जिनमें हमें उनके पहले के राजनीतिक विचारों का विस्तार मिलता है, अब इनकी अभिव्यक्ति मानवता और उसके आध्यात्मिक भविष्य के व्यापकतर संदर्भ में हुई।

9.5.1 मानव समाज का उद्विकास

अरबिंदो का तर्क है कि मानव समाज को अपने विकास की प्रक्रिया में तीन चरणों से होकर निकलना होता है। पहला चरण सहजता का चरण होता है। इस चरण में, समुदाय के निर्माण के स्वरूप और कार्यकलाप, इसकी परंपराएं और प्रथाएं और संस्थात्मक संगठन स्वाभाविक संगठित विकास के परिणाम होते हैं। प्राकृतिक मूल प्रवृत्तियां और परिवेश संबंधी आवश्यकताएं इसके निर्माण में एक अहम भूमिका अदा करते हैं। लोग कुछ चिन्हों में विश्वास करते हैं, जिनकी प्रकृति कल्पना और मूल प्रवृत्ति के गुणों वाली होती है। एक ही नस्ल या नातेदारी वाले लोग समान चिन्हों का इस्तेमाल करते हैं जो उनके लिए धर्म बन जाते हैं। इस तरह, विकास के इस चरण में, प्राकृतिक मूल-प्रवृत्तियां और धार्मिक चिन्ह साथ-साथ चलते हैं।

दूसरा चरण चेतना का चरण है, जिसमें लोग आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं के प्रति सचेत हो जाते हैं और बुद्धि और सृजनात्मक शक्ति की मदद से जीवन और इसकी समस्या के बारे में सोचने लग जाते हैं। इस चरण की प्रकृति मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक और नैतिक होती है। इस चरण में बुद्धिजीवी महत्वपूर्ण हो जाते हैं और तर्क या विद्रोह या प्रगति या स्वतंत्रता के युग के पहलकर्त्ताओं के रूप में आगे आते हैं।

तीसरा चरण तर्क की जीत और हार दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस चरण में मनुष्य सामूहिकता में और भी गहनता से और उद्देश्य के साथ जीने लगते हैं। इस चरण में मनुष्य का जीवन सहज स्वतंत्रता, सहानुभूति और एकता के बोध से और व्यक्तिगत और सामुदायिक अस्तित्व की भावना से निर्देशित होता है। यहां से, मानवजाति को इस आध्यात्मिक समाज के विचार को मूर्त रूप देने की ओर बढ़ना होता है। यह वह आदर्श है जिसकी ओर समाज के उद्विकास की यह प्रक्रिया इशारा करती है।

इस आध्यात्मिक समाज में एक नियंत्रण करने वाले तंत्र के रूप में राष्ट्र के लिए कोई जगह नहीं होगी। लोग ईश्वर या अपने ही बृहत्तर रूप की तरह इसकी पूजा नहीं करेंगे। राष्ट्र के रूप में विभिन्न अस्मिताओं के आधार पर कोई टकराव या संघर्ष नहीं होगा। समूह के रूप में राष्ट्रों के भीतर एकता तो होगी ही, बल्कि, मानवजाति की अंतिम एकता भी होगी। अरबिंदो ने इस एकता को हासिल करने की प्राथमिक जिम्मेदारी भारत को सौंपी थी।

9.5.2 मानव एकता की प्रकृति

यह राज्य या किसी और संगठन के कड़े कानून के अधीन स्थापित कोई यांत्रिक एकता नहीं होगी, क्योंकि इस तरह की संभवतः एकता विभिन्न समूहों, व्यक्तियों या नस्लों की विविधता या अनेकता को नकार देगी। सभी व्यक्तियों और समुदायों को अपनी संभावनाओं के पूर्ण विकास और अपनी बहुआयामी अनेकता की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर मिलेगा।

भविष्य का समाज एक जटिल एकता का समाज होगा, एक ऐसा विश्व समाज जिसमें विद्यमान राष्ट्र एक समग्रता का अंतर्निहित अंग होंगे। राष्ट्रीय समाज सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में काम करते रहेंगे, लेकिन उनकी भौतिक सीमाओं की कोई प्रासंगिकता न होगी क्योंकि वे मानवजाति की एकता के सपने को साकार करने के लिए इन सीमाओं के पार देखेंगे।

अरबिंदो उस समय में इस तरह के आध्यात्मिक समाज के उदय के रास्ते में आने वाली समस्याओं और बाधाओं के बारे में जानते थे, लेकिन वह निकट भविष्य में ऐसे समाज के उदय के प्रति आशावादी थे। वह विश्व एकता और विश्वशांति को हासिल करने के बारे में आशावान ही नहीं, निश्चित भी थे। शांति और एकता की मनुष्य की आकांक्षा 1920 में राष्ट्र संघ और 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की शक्ल में कुछ हद तक यथार्थ हो गयी थी। वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामने इस तरह के संगठनों की व्यावहारिक सीमाओं को भी जानते थे, लेकिन एक एकताबद्ध या संयुक्त विश्व के उदय में उनका दृढ़ विश्वास

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

था। उनका यह विश्वास था कि यह निश्चित है क्योंकि इसका होना मानवता मात्र के बने रहने के लिए आवश्यक है और इस मामले में असफलता का मतलब होता है, खुद मानव जाति की असफलता। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मानवता ने जब-तब भले ही भूलें की हों, वह अपने ही खात्मे के लिए काम नहीं करने वाली।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) अरबिंदो के अनुसार, मानव समाज किन चरणों से होकर अपना विकास करता है।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अरबिंदो की भविष्य के समाज की कल्पना को संक्षेप में समझाएं।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से आलोचना के कुछ बिंदु उठ खड़े होते हैं, जिनकी चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। उसके बाद ही हम भारतीय राजनीतिक चिंतन और राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान पर विचार करेंगे।

9.6.1 राष्ट्रवाद का सिद्धांत–आध्यात्मिक या धार्मिक?

अरबिंदो के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धांत के संदर्भ में यह तर्क किया जाता है कि इसे कहा तो आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है, लेकिन वास्तव में यह हमारी जानकारी में धार्मिक था, और इसलिए इसका चरित्र प्रतिक्रियावादी था। यह जनसाधारण को भावनात्मक आधार पर जागृत करने का, और गरीबी, आर्थिक शोषण, समानता जैसे उन असली मुद्दों से उनका ध्यान हटाने का प्रयास था, जो व्यक्ति और समुदाय दोनों की प्रगति के लिए हानिकर है। यह देश की सांस्कृतिक विरासत के शोष में हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं की दुहाई थी। यही नहीं यह भी तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक पूर्णता का साधन मानना आम आदमी के लिए आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी और काल्पनिक है। धर्म को राजनीति से जोड़ना, वह भले ही आध्यात्मिकता के नाम पर हो, भारत जैसे बहुधर्मीय, बहुसांस्कृतिक, बहुसंख्यक समाज में एक खतरनाक बात है। यह तर्क किया जाता है कि अंतिम विश्लेषण से इस कोशिश का परिणाम भारत के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कलह बढ़ाने के रूप में सामने आया, जिसके अंतिम परिणामस्वरूप देश का बंटवारा हुआ।

बहरहाल, अरबिंदो के हिमायती यह दावा करेंगे कि उनकी मानव एकता और राष्ट्रवाद की अवधारणा का आधार हिंदू सनातन धर्म की उनकी समझ थी, जो उनके लिए जीवन का एक मुक्त और सार्वभौम दर्शन था। राष्ट्रवाद की उनकी अवधारणा स्पष्ट रूप से राजनीति के प्रति उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का संकेत देती है। केवल उनके राष्ट्रवाद के सिद्धांत में ही नहीं, बल्कि उनके समग्र राजनीतिक दर्शन में ही आध्यात्मिकता का संकेत मिलता है। उनके लिए राजनीति व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आध्यात्मिक विकास की बृहत्तर प्रक्रिया का एक पहलू है। वह भारत की स्वाधीनता को इस प्राचीन देश के जीवन में एक ऐसे मोड़ के रूप में देखते थे, जो मानव जाति के आध्यात्मिक मार्गदर्शक की भूमिका निभाने की दिशा में इसके लिए आवश्यक था। वह यह विश्वास करते थे कि भारत की यह भूमिका पूर्व निर्धारित थी और भारत केवल हिंदू धर्म की शिक्षा के जरिये ही उस स्तर तक उठ सकता था। राष्ट्रवाद किसी की अवहेलना करने का बीड़ा नहीं उठा सकता। इसलिए व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समाज के सभी वर्गों को राजनीतिक जीवन की मुख्य धारा में ले आये। भारत के संदर्भ में, उनका मानना था कि हिंदू सभ्यता के बाहर के आदिवासियों सहित सभी वर्गों को राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्रक्रिया का अंग बनना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रवाद किसी को बाहर नहीं छोड़ता। अरबिंदो के अनुयायियों का कहना है कि इसी अर्थ में उनकी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को समझा जाना चाहिए।

9.6.2 राजनीतिक मुद्दों पर जोर

आलोचक बताते हैं कि अरबिंदो ने सामाजिक सुधार के मुद्दों पर कम ध्यान दिया, जो शायद कहीं अधिक महत्वपूर्ण और अनावश्यक थे। इसी सिलसिले में क्रांतिकारियों का बचाव यह था कि यह उस समय की परिस्थितियों में प्राथमिकता देने का मामला था। उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता के मुद्दे की तुलना में सामाजिक सुधार का मसला किसी तरह भी गैर महत्वपूर्ण नहीं था, लेकिन राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राथमिक महत्व का समझा था। इस संदर्भ में अरबिंदो का बहुत स्पष्ट दृष्टिकोण था। उनका कहना था, "राजनीतिक स्वतंत्रता किसी भी देश का प्राण है, पहले राजनीतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य साधे बिना सामाजिक सुधार, शैक्षिक सुधार, औद्योगिक प्रसार, नस्ल के नैतिक सुधार का प्रयास करना अज्ञान और निरर्थकता की पराकाष्ठा है।"

9.6.3 श्री अरबिंदो : अराजकतावादी/आतंकवादी?

विदेशी शासन के खिलाफ़ बल या हिंसक साधनों के इस्तेमाल की अरबिंदो जो वकालत करते थे, उसके लिए उनकी आलोचना की जाती है कि वह अपने दृष्टिकोण और कर्म में अराजकतावादी भी थे और आतंकवादी भी। वह निश्चित रूप से अराजकतावादी नहीं थे और न ही वह कोई आतंकवादी थे, लेकिन नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर उन्होंने हिंसा के इस्तेमाल से असहमति नहीं जतायी। लेकिन वह किसी हिंसक अराजकतावादी की तरह व्यक्तियों के खिलाफ अविवेकपूर्ण आतंकवाद से सहमत नहीं थे। भविष्य के समाज की अपनी कल्पना में उन्होंने आध्यात्मिक स्तर पर मानव एकता की बृहत्तर योजना में सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार किया। इसलिए, अरबिंदो पर अराजकतावादी होने का आरोप निराधार है।

जहां तक अरबिंदो के हिंसक साधनों के इस्तेमाल की वकालत करने और क्रांतिकारी टोलियों के साथ उनके साथ का सवाल है, यह कहा जा सकता है कि यह अंग्रेज़ शासकों के और भी असहिष्णु और असभ्य होते तरीकों के खिलाफ उनकी प्रतिक्रिया थी। यह अंग्रेज़ी नीति और बंगाल के बंटवारे के खिलाफ प्रतिक्रिया थी। यह एक भावुक राष्ट्रभक्त की उसकी मातृभूमि के बर्बर शोषण और विदेशी शासकों के साथ अत्याचारी शासन के खिलाफ प्रतिक्रिया थी। उनके लिए, लक्ष्य महत्वपूर्ण थे, चाहे उन्हें किन्हीं भी साधनों से हासिल किया जाये। बहरहाल थोड़े समय में ही इस रणनीति की सीमाएं बहुत स्पष्ट हो गयीं। अरबिंदो ने खुद इनकी ओर संकेत किया है। अरबिंदो ने इस ओर भी संकेत किया कि नैतिक मापदंड केवल सापेक्ष होते हैं, और उन्हें सार्वभौम नहीं माना जा सकता। अरबिंदो के अनुसार, यह सबसे अच्छी नीति है कि हिंसा से बचा जाये, लेकिन इससे न तो पूरी तौर से बचा जा सकता है और न ही इस पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

9.7 सारांश

हमने अरबिंदो के चिंतन की आलोचना के कुछ बिंदुओं पर बात की। अब हम आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन और राष्टीय आंदोलन में उनके योगदान का आंकलन करेंगे। उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत आधुनिक चिंतन के क्षेत्र में एक अनूठा योगदान है। उनके लेखों ने उनके समय के पढ़े-लिखे युवाओं को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उद्देश्य को अपनाने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्रवाद की अवधारणा की आध्यात्मिक अर्थों में विवेचना करके उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया आयाम दिया और इसे आर्थिक और राजनीतिव संदर्भ से ऊपर उठाया और देश में राष्ट्रवादियों के सामने एक नये किस्म का आध्यात्मिक आदर्शवाद स्थापित किया गया।

दूसरे, विदेशी प्रभुत्व या शासन से पूर्व स्वतंत्रता की स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम लक्ष्य के रूप में वकालत करके उन्होंने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की बनावट को एक बदलाव दिया। उस समय जबकि नरमपंथी राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, उनका यह कदम बहुत साहसी था।

तीसरे, यह बताया जा सकता है कि अरबिंदो राष्ट्रीय आंदोलन को एक व्यापक आधार देने की आवश्यकता को पहचानने या मान्यता देने वाले पहले राजनीतिक चिंतक थे। उन्होंने 1893 में ही राष्ट्रीय आंदोलन में समाज के सभी वर्गों की हिस्सेदारी और जनसाधारण को जागृत करने की आवश्यकता पर बल दिया था। इस अर्थ में वह एक सच्चे जनवादी थे, जो कुछ व्यक्तियों की बौद्धिक पहल की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों की सम्मिलित कार्यवाही पर निर्भर करते थे। उनके निष्क्रिय प्रतिरोध की वकालत करने ने जनता में नये सिरे से विश्वास भर दिया और अंग्रेज़ी राज की वास्तविकता और भ्रांति के अंतर्विरोध को उजागर कर दिया।

भारतीय राष्ट्र के लिए पूर्ण आज़ादी के लक्ष्य को हासिल करने के लिए क्रांतिकारी तरीकों की वकालत करके उन्होंने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के बीच क्रांतिकारी भावना के लिए एक अनुकूल वातावरण बना दिया और उनके नेता के रूप में इसमें हिस्सा लेकर उन्होंने सिद्धांतवादी और व्यवहारवादी दोनों के रूप में एक मिसाल कायम कर दी, जो अपने आप में विषयवक्ता और नेता दोनों के गुणों का अनूठा संगम है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर नीचे दिए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिए उत्तरों से कर लें।

1) आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धांत की आलोचना के दो मुख्य बिंदु बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या अरबिंदो अराजकतावादी थे?

.....

अरविंदो

.....

.....

.....

.....

.....

3) रिक्त स्थानों की पूर्ति करके वाक्यों को पूरा कीजिए।

i) केवल उनके राष्ट्रवाद के सिद्धांत में ही नहीं, बल्कि उनके सामग्री राजनीतिक दर्शन में भी.....मिलता है।

ii) राजनीतिक स्वतंत्रता किसी देश का.....है।

iii) अरविंदो पर.....होने का आरोप निराधार है।

iv) उन्होंने.....और.....दोनों के रूप में एक मिसाल कायम कर दी जो अपने आप में विष्यवक्ता और नेता के गुणों का अनूठा संगम है।

9.8 उपयोगी पुस्तकें

करुणाकरण के.पी. (1975) इंडियन *पॉलिटिक्स फ्रॉम दादाभाई नौरोजी टू गांधी*, गीतांजलि प्रकाशन, नई दिल्ली।

मेहता वी.आर. (1983) : *आइडियोलॉजी, माडर्नाइजेशन ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया*, मनोहर पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सर्मा जी.एन. (dm.) (1973) : *द विज़न ऑफ श्री अरविंदो*, दीप्ति पब्लिकेशंस, श्री अरविंदो आश्रम, पौंडिचेरी।

सर्मा जी.एन. और शाकिर मुईन (1976) : *पॉलिटिक्स ऐंड सोसायटी : राम मोहन राय टू नेहरू*, परिमल प्रकाशन, औरंगाबाद (अध्याय 3)।

सिंह करन (1970) : *प्रॉफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई।

पैंटन टॉमस (संपा.) (1988) : *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया*, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली (अध्याय 12)।

वर्मा पी.पी. (1971) : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट*, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 9.2.1, 9.2.2

2. i) क ii) ख iii) ग iv) क

बोध प्रश्न 2

1) 9.4.1

2) 9.4.3

3) i) सही ii) सही iii) गलत iv) गलत v) सही

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

बोध प्रश्न 3

1) देखिये 9.5.1

2) देखिये 9.5.2

बोध प्रश्न 4

1) देखिये 9.6.1

2) देखिये 9.6.3

3) i) आध्यात्मिकता का संकेत, ii) प्राण, iii) अराजकतावादी, iv) सिद्धांतवादी-व्यवहारवादी

इकाई 8 बाल गंगाधर तिलक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 तिलक : एक संक्षिप्त जीवन-परिचय
8.3 सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार
8.3.1 विवादास्पद मुद्दे
8.3.2 तिलक का दृष्टिकोण
8.4 तिलक के आर्थिक विचार
8.4.1 आर्थिक मुद्दों पर तिलक के विचार
8.5 तिलक के राजनीतिक विचार
8.5.1 तिलक के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद
8.5.2 राष्ट्रवाद
8.5.3 अतिवाद : एक विचारधारा के रूप में
8.5.4 अतिवाद : कार्यवाही का कार्यक्रम
8.6 एक संक्षिप्त आंकलन
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 उपयोगी पुस्तकें
8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में प्रमुख राष्ट्रवादी बाल गंगाधर तिलक के सामाजिक और राजनीतिक चिंतन पर चर्चा की गयी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न के बारे में चर्चा कर सकेंगे :

- भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक का योगदान,
- सामाजिक सुधार पर उनके विचार,
- आर्थिक मसलों पर उनके विचार, और
- उनके राजनीतिक विचार और गतिविधियां।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी, और तब से ही इस पर पश्चिमी पढ़े-लिखे भारतीयों का दबदबा रहा। कांग्रेस के शुरुआती सालों में उसे पश्चिमी राजनीतिक विचारों और व्यवहारों ने प्रभावित किया। उदारवाद कांग्रेस का निर्देशनकारी दर्शन रहा।

कांग्रेस के उदारवादी दर्शन के मुख्य सिद्धांत थे :

क) **मानव की गरिमा में आस्था,**

ख) **व्यक्ति का स्वतंत्रता का अधिकार,**

ग) **सभी नस्ल, धर्म, भाषा और संस्कृति के स्त्री-पुरुषों की समानता।**

व्यवहार में इन सिद्धांतों का यह अर्थ निकलता था :

क) मनमाने शासन का विरोध,
ख) कानून का राज,
ग) कानून के आगे समानता,
घ) धर्म निरपेक्षता।

अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों की पहली पीढ़ी को ब्रिटिश ढंग के रहन-सहन से अपार लगाव था, उनकी न्याय और उचित व्यवहार की ब्रिटिश भावना में आस्था थी, और ब्रिटिश शासकों के प्रति उनमें स्नेह और कृतज्ञता का गहरा भाव था।

उनका विश्वास था कि सामान्य तौर पर अंग्रेज़ों के साथ संपर्क, विशेष तौर पर अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ संपर्क, उन्हें स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और मानवीय गरिमा के मूल्य जैसे नये और मुक्तिकारी विचारों के संपर्क में लाने के लिये जिम्मेदार थे। अंग्रेज़ी हुकूमत को वे इस बात का श्रेय देते थे कि उन्होंने कानून और व्यवस्था कायम की और असरकारी प्रशासन को लागू किया।

यूरोपीय उदारवादियों की तरह, 19वीं सदी के भारतीय कांग्रेसी नेता भी धीरे-धीरे होने वाली प्रगति में विश्वास करते थे। इस प्रगति की प्राप्ति शासकों की सहानुभूति और शुभेच्छा के माध्यम से होनी थी। इसलिये वे संवैधानिक तरीकों पर जोर देते थे।

राष्ट्रीय एकता उनकी चिंता का प्रमुख विषय था। वे राजनीतिक उद्देश्यों के लिये धार्मिक मतभेदों का लाभ उठाने के खिलाफ थे। वे राजनीति को धर्म से अलग रखने पर जोर देते थे। उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष था।

पढ़े-लिखे भारतीयों की युवा पीढ़ी ने पहले वाली पीढ़ी के पूरे सोच को अस्वीकार कर दिया। काफी हद तक, इसके लिये बदली हुई परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। उन्होंने स्वराज या देश के लिये स्वाधीनता के लक्ष्य की जगह एक और क्रांतिकारी सिद्धांत और व्यवहार को रखा। कांग्रेस के बुजुर्ग नेता युवा राष्ट्रवादियों के रवैये से स्तब्ध थे। उन्होंने उन्हें अतिवादी कहा और उनके दर्शन को 'अतिवाद' बताया।

ये युवा राष्ट्रवादी (अतिवादी) अपने अधिकांश व्यवहारों और विश्वासों में पहले के उदारवादियों से भिन्न थे। इन अतिवादियों की अपने पूर्ववर्तियों की तरह अंग्रेज़ों की न्य और उचित व्यवहार की भावना में आस्था नहीं थी। उनके तरीके भी उदारवादियों से भिन्न थे। पहले की पीढ़ी के नेताओं ने जिन तथाकथित संवैधानिक तरीकों और विकासशील रणनीति को अपनाया हुआ था, युवा पीढ़ी के राष्ट्रवादियों का उनमें विश्वास नहीं था। अतिवादी एक निडर और क्रांतिकारी रणनीति को कहीं अधिक पसंद करते थे। वे नेता अपने आंदोलनों के लिये समर्थन जुटाने और जन जागरण के लिये अक्सर पारंपरिक सांस्कृतिक व्यवहारों और परंपराओं का सहारा लेते थे।

इस तरह, युवा राष्ट्रवादी राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा और एक भिन्न दृष्टिकोण देने में कामयाब रहे। फिर भी, यह उल्लेख करना होगा कि समूचे सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में आये बदलावों ने यह संभावना बना दी थी कि राष्ट्रवादियों की एक नयी और अलग किस्म की पीढ़ी उभरे और कामयाबी से काम करे।

लाल बाल पाल के नाम से जानी जाने वाली, लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल की तिकड़ी ने युवा राष्ट्रवादियों का नेतृत्व किया। इन तीनों ने ही भारत में राष्ट्रवादी सोच और आंदोलन के विकास में योगदान किया। यहां हम भारतीय राजनीतिक सोच और राष्ट्रीय आंदोलन में बाल गंगाधर तिलक के योगदान का अध्ययन करेंगे।

8.2 तिलक : एक संक्षिप्त जीवन-परिचय

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को भारत के पश्चिमी तट पर कोंकण के

बाल गंगाधर तिलक

रत्नागिरी जिले के मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। यह परिवार पवित्रता, विद्वता और प्राचीन परंपराओं और कर्मकांडों में लगन के लिये जाना जाता था। उनके पिता, गंगाधर पंत व्यवसाय से अध्यापक और संस्कृत के विद्वान थे। इस तरह बाल तिलक का पालन-पोषण रूढ़िवाद और परंपराओं के वातावरण में हुआ। इससे उनमें संस्कृति के प्रति लगाव और प्राचीन भारतीय सोच और संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव बना। जब वह दस वर्ष के थे, उनके पिता का तबादला पुणे के लिये हो गया। इससे उन्हें उच्च शिक्षा का अवसर मिल गया। **1876** में ग्रेजुएशन करने के बजाय उन्होंने देश सेवा करने का निश्चय किया।

इस विश्वास के साथ कि देश-सेवा करने का सबसे अच्छा तरीका लोगों (या जनता) को शिक्षित करना था, तिलक और उनके मित्र गोपाल गणेश अगरकर ने शिक्षा के लिये अपने जीवन को समर्पित कर देने का निश्चय किया।

उन्होंने 1876 में पुणे में न्यू इंगलिश स्कूल शुरू किया और स्कूल अध्यापकों के रूप में अपने कैरियर (या कार्य जीवन) की शुरुआत की। लेकिन तिलक को यह लगने लगा कि छोटे बच्चों को शिक्षित करना काफी नहीं था और बड़ी उम्र के लोगों को भी सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ से परिचित कराया जाना चाहिये, इसलिए, 1881 में उन्होंने दो साप्ताहिक शुरू किये—अंग्रेज़ी में 'मराठा' और मराठी में 'केसरी'। 1885 में उन्होंने एक कॉलेज शुरू करने की गरज से दक्कन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना की। बाद में इस कॉलेज का नाम बम्बई के तत्कालीन राज्यपाल के नाम पर 'फर्ग्युसन कॉलेज' रखा गया।

बाद में, तिलक और अगरकर में मतभेद हो जाने के कारण तिलक ने सोसायटी से इस्तीफा दे दिया और दोनों साप्ताहिकों का स्वामित्व ले लिया। इन दो साप्ताहिकों का संपादन करते हुए बम्बई प्रेसीडेंसी के सामाजिक और राजनीतिक मामलों में सीधे-सीधे हिस्सेदारी का मौका मिला। केसरी में अपने लेखों के जरिये उन्होंने लोगों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करने का प्रयास किया। अपने लेखों में, तिलक अक्सर महाराष्ट्र की परंपरा और उसके इतिहास का आह्वान करते थे। इन लेखों के कारण वह अपने लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय हो गये। लेकिन, इस कारण सरकार उनकी बैरी हो गयी उन्हें कई मौकों पर जेल की हवा खानी पड़ी।

तिलक को भारत का एक अग्रणी संस्कृत विद्वान माना जाता था। इससे वह तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स), धर्म, खगोल शास्त्र और दूसरे संबद्ध क्षेत्रों से संबंधित साहित्य का अध्ययन कर सके। उनकी एक जानी-मानी कृति "ओरायन : स्टडीज़ इन दि एंटीक्विटीज़ ऑफ वेदाज़" ('वेदों की प्राचीनता का अध्ययन') है। इस किताब में उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि ऋग्वेद का लेखन ई.पू. 4500 में हुआ था। इस किताब से उन्हें प्राच्य (पूर्वी) विषयों के विद्वान के रूप में मान्यता मिली। उनकी दूसरी किताब "दि आर्कटिक होम ऑफ वेदाज़" थी। इस किताब में उन्होंने खगोल शास्त्रीय और भौगोलिक आंकड़ों के आधार पर यह मत दिया कि आर्य मूल रूप से आर्कटिक क्षेत्र के निवासी थे। लेकिन, उनकी महानतम कृति "गीता रहस्य" थी। इसमें गीता के उपदेशों की दार्शनिक मीमांसा है। गीता की विवेचना करते हुए, तिलक ने इसके मूल संदेश के रूप में त्याग की जगह कर्मयोग पर जोर दिया।

एक क्रांतिकारी राष्ट्रीय जागरण के लिये, तिलक और उनके सहकर्मियों ने प्रसिद्ध चार-सूत्रीय कार्यवाही कार्यक्रम बनाया, जिसे कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं ने पसंद किया। सरकार चौकन्ना हो गयी और अधीर होकर उसने भयंकर दमनकारी तरीकों का सहारा लिया।

अंत में, बनारस कांग्रेस के समय कार्यवाही कार्यक्रम को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद तिलक की गिरफ्तारी हो गयी; उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। अभियोग का आधार उनका एक लेख था, जो उन्होंने केसरी के लिये लिखा था। उन्हें छह महीने की कड़ी कैद की सजा सुनायी गयी और उन्हें निर्वासित कर मांडले भेज दिया गया। यहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध किताब गीता रहस्य लिखी। जेल से छूट कर एक बार फिर उन्होंने स्वराज्य के विचार को लोकप्रिय बनाया। 2 अक्टूबर, **1920** को उनका निधन हो गया।

तिलक का यह विश्वास था कि दुनिया ईश्वर का क्षेत्र है और वास्तविक है। यह माया नहीं है। व्यक्ति को दुनिया में ही रहना और प्रयास करना है; यहीं उसे अपने कर्म करने हैं। इस तरह से, व्यक्ति आध्यात्मिक आज़ादी पायेगा और अपने साथी प्राणियों के कल्याण को बढ़ावा देगा।

वेदांत दर्शन में विश्वास के बावजूद, तिलक सामान्य अर्थ में धर्म के महत्व को मानते थे। प्रतीकों के उपयोग और लोकप्रिय कर्मकांडों को वह इसलिए स्वीकार करते थे क्योंकि उन्हें लगता था कि इनसे सामाजिक एकजुटता और एकता की भावना को बनाने में मदद मिलती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) उदारवाद के प्रमुख सिद्धात क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) युवा राष्ट्रवादियों और वरिष्ठ (उदारवादी) नेताओं के बीच क्या मतभेद थे?

.....

.....

.....

.....

8.3 सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार

सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार रानाडे, मलबारी, गोखले, भंडारकर आदि समाज सुधारकों से भिन्न थे। जिन मुद्दों को लेकर मुख्य तौर पर विवाद था, उनकी संक्षिप्त व्याख्या करने से इस मसले पर तिलक के विचारों की पृष्ठभूमि मिल जायेगी।

8.3.1 विवादास्पद मुद्दे

सामाजिक सुधार के जिन मुद्दों पर विवाद था, वे भिन्न थे :

वर्ष 1888 में, पुणे के समाज सुधारकों ने स्कूलों और कॉलेजों में लड़के-लड़कियों के लिये सह-शिक्षा का प्रस्ताव रखा। तिलक ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि स्त्रियां अपना अधिकांश समय घर पर रह कर घरेलू कामकाज करते हुए बिताती है : इसलिये उनके पाठ्यक्रम लड़कों के पाठ्यक्रम से भिन्न होने चाहिये। स्त्रियों के लिये अलग से स्कूल और कॉलेज होने चाहिये जिसमें उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा किया जाये।

वर्ष 1889 में, अमेरिका से लौटने के बाद, पंडिता रमाबाई ने विधवाओं के लिये पहले बम्बई और फिर पुणे में शारदा सदन चालू किया। यह विधवाओं के लिये एक किस्म का आवासीय स्कूल था, जिसके लिये पैसों का प्रबंध अमेरिकी मिशनरी करते थे। लेकिन तिलक ने विदेशी स्रोतों से पैसा स्वीकार करने के लिये शारदा सदन की आलोचना की। शारदा सदन की सलाहकार परिषद् के सदस्यों, रानाडे और भंडारकर को विदेशी अभिकरणों से पैसा लेने में कुछ भी गलत दिखायी नहीं देता था। लेकिन तिलक की आलोचना और भी तीखी होती गयी और इसका परिणाम यह हुआ कि रानाडे और

बाल गंगाधर तिलक

भंडारकर ने सलाहकार परिषद से इस्तीफा दे दिया, और इस तरह शारदा सदन को लेकर छिड़े विवाद का अंत हो गया। यह एक मिसाल है जिससे इस तथ्य का पता चलता है कि तिलक एक असरदार नेता थे। जिनकी राय को गंभीरता से लिया जाता था। दृढ़ धारणा की इसी शक्ति और साहस ने उन्हें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक अग्रणी नेता बना दिया।

- विवाद का एक और मुद्दा था **1891** में (विवाह की) सहमति की आयु संबंधी विधेयक, और **1918** में एक ऐसे ही विधेयक को लाया जाना। इन विधेयकों का उद्देश्य लड़कियों के लिये विवाह की उम्र बढ़ाना था। यह इसलिये किया गया ताकि बाल विवाह की प्रथा को हतोत्साहित किया जा सके। लेकिन तिलक ने इन दौनों ही विधेयकों का इन आधारों पर विरोध किया कि अगर ये विधेयक पारित हो गये, तो यह एक विदेशी सरकार द्वारा भारतीयों के एक वर्ग के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप होगा।

8.3.2 तिलक का दृष्टिकोण

इस चरण पर एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है: क्या तिलक एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी थे? सामाजिक सुधार के मसले पर तिलक के दृष्टिकोण का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आरोप पूरी तौर पर उचित नहीं है।

तिलक सामाजिक सुधार के विरोधी नहीं थे। वह इस बात से सहमत थे कि समय गुजरने के साथ सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं को बदलना चाहिये, और वे बदलती भी हैं। सच में तो, अपने तरीके से उन्होंने रूढ़िवादिता के खिलाफ संघर्ष भी छेड़ा। लेकिन, सामाजिक सुधार का उनका सिद्धांत उनके विरोधी उदारवादी सुधारकों से भिन्न था। वह सुव्यवस्थित, विकासशील और सहज सुधारों में विश्वास करते थे। वह ऐसे सुधारों पर जोर देते थे, जो क्रमिक हो और जिनकी प्रेरणा का स्रोत और जड़ें लोक-विरासत में हों। वह इस बात में विश्वास करते थे कि मानव समाज हर समय परिवर्तन की स्थिति में रहता है और केवल एक क्रमिक ढंग से ही उसमें बदलाव आ सकता है। कभी भी अतीत से अचानक और पूरी तौर पर टूटना नहीं होता। अगर अतीत के साथ नकली तरीके से अचानक और पूरी तरह टूटना हुआ, तो यह कभी स्वीकार्य नहीं होता। इससे समाज में अव्यवस्था बनती है। इसलिये, उदारवादी सुधारक जिस आमूल-चूल परिवर्तन की बात करते थे, तिलक उस विचार का समर्थन नहीं कर सके। वह चाहते थे कि सामाजिक सुधारों को धीरे-धीरे ही लाया जाये। तिलक ने सुधारकों को आगाह किया कि वे अतीत को पूरी तरह से खारिज न करें। उन्होंने सुधारकों से आग्रह किया कि वे हमारी परंपराओं को स्वीकार करने योग्य विशेषताओं को अपनायें (और उन्हें संजोकर रखें)।

इसके अलावा, तिलक ने सुधारकों के बिना सोचे-समझे पश्चिम की नकल करने का विरोध किया। तिलक इस विचार से कभी सहमत नहीं हो पाये कि पश्चिम की सभी बातें जरूरी तौर पर अच्छी हैं। तिलक खुले दिमाग के थे और वह पश्चिम की किसी भी अच्छी बात को स्वीकार करने को तैयार थे। मिसाल के तौर पर, राष्ट्रीय शिक्षा की अपनी योजना में उन्होंने पश्चिमी विज्ञानों और प्रौद्योगिकी को शामिल किया। राष्ट्रीय शिक्षा की उनकी योजना पश्चिमी और पूर्वी ज्ञान, परंपरा और संस्कृति की परंपराओं के सभी अच्छे तत्वों का बढ़िया मिश्रण था। यह तिलक के समाज सुधार के अपने नमूने की ठोस अभिव्यक्ति थी।

तिलक का मत यह था कि भारतीय समाज में व्याप्त अधिकांश बुराइयों का स्रोत विदेशी शासन था। इसलिये तिलक की दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण काम था, स्वराज की प्राप्ति जो केवल सामूहिक जन प्रयास से संभव थी। जहां तक तिलक का संबंध है, स्वराज की प्राप्ति का काम सामाजिक सुधारों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था। वह यह मानते थे कि समाज सुधार के काम भारत को आज़ादी मिलने के बाद किये जा सकते थे।

अंतिम बात, तिलक विधान के जरिये सुधार लाने के विरोधी थे। वह उन सहज बदलावों के हामी थे जो समाज के अंदर से ही आये। तिलक यह विश्वास करते थे कि केवल ऐसे सुधार ही असरकारी होते हैं। इसके अलावा, वह इस बात के खिलाफ थे कि एक विदेशी सरकार को भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का मौका दिया जाये।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक का समाज सुधार का सिद्धांत क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) तिलक सामाजिक सुधार के मसले को क्यों स्थगित करना चाहते थे?

.....

.....

.....

.....

3) तिलक विधान के जरिये सुधार के विचार के खिलाफ क्यों थे?

.....

.....

.....

.....

8.4 तिलक के आर्थिक विचार

संस्कृति और धर्म तिलक के राष्ट्रवाद के मुख्य आधार थे। फिर भी, वह आर्थिक आधार पर भी अपने राष्ट्रवाद की वकालत करते थे।

तिलक दादा भाई नौरोजी के "आर्थिक विकास सिद्धांत" से सहमत थे और देश के संसाधनों का दोहन करने के लिये अंग्रेज़ी सरकार की आलोचना करते थे। उन्होंने लिखा कि भारत में विदेशी उद्यमों और निवेश ने संपन्नता का भ्रम पैदा किया हुआ है, जबकि सच्चाई कुछ और ही है। अंग्रेजी हुकूमत ने देश को कंगाल बना दिया था। अंग्रेज़ों की बिना सोची-समझी नीतियों ने स्वदेशी उद्योगों, व्यापार और कला को नष्ट कर दिया था। विदेशी शासकों ने यूरोपीय उत्पादों को तो भारत में आने की खुली छूट दे रखी है और भारतीय दस्तकारी आदि को मजबूरन उनके साथ गैर-बराबरी की होड़ करनी पड़ती थी।

लेकिन तिलक मानते थे कि एक विदेशी सरकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण देगी। तिलक ने 'बहिष्कार' और 'स्वदेशी' के जो राजनीतिक कार्यक्रम सामने रखे, उनका उद्देश्य स्वदेशी और स्वाधीन आर्थिक विकास को जन्म देना था। हम इन बिंदुओं पर बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे। यहां इतना कह देना काफी होगा कि बहिष्कार का मतलब था–विदेशी सामान का दृढ़ता से विरोध करना, और स्वदेशी का उद्देश्य स्वदेशी उत्पादन को समर्थन देना था।

बहरहाल, कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में मेहनतकश अवाम को आर्थिक न्याय देने के आसन्न मसलों पर तिलक के विचार हमेशा वाद-विवाद का विषय रहे हैं। उनके समय में जो मुद्दे उभर कर आये, उनमें से कुछ पर उनके विचार देकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है।

8.4.1 आर्थिक मुद्दों पर तिलक के विचार

एक निडर और निर्भीक पत्रकार की हैसियत से, तिलक ने अपने समय में उभर कर आने

बाल गंगाधर तिलक

वाले छोटे-बड़े सभी मुद्दों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अब हम संक्षेप में न मुद्दों और इनके बारे में तिलक के विचारों पर चर्चा करेंगे।

वर्ष 1879 में, सरकार ने कृषि राहत अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य ज़मीदारों और महाजनों के शोषण के शिकार किसानों को अत्यधिक राहत देना था जिसकी उन्हें ज़रूरत थी।

इस अधिनियम के प्रावधान नरम थे। इसमें भूमि के गिरवी रखे जाने पर और इस आधार पर इसके हस्तांतरण पर रोक लगायी गयी थी।

तिलक ने इस अधिनियम पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने महाजनों का पक्ष लिया और केसरी में अपने लेख में इस अधिनियम की आलोचना की। उनका तर्क यह था कि किसानों की दुर्दशा के लिये महाज़नों को ज़िम्मेदार ठहराना गलत है। सच में तो, महाजन के पैसे ले कर ही किसान अपनी खेती चालू रख पाते हैं। इसके अलावा, महाजन खुद शहरी बैंकरों से कुछ कम ब्याज पर पैसे उधार लेते हैं। किसानों के कर्ज न चुकाने की स्थिति में, महाजन को ही परेशान होना पड़ता है। अधिनियम में किसानों को संरक्षण दिया गया, लेकिन महाजनों को असंरक्षित छोड़ दिया गया। इससे किसानों और महाजनों में शत्रुता बनती है। इसलिए, इस संबंध में सरकार की कार्यवाही अनुचित थी। इसलिये, इस कानून को या तो खत्म किया जाये या अविलम्ब वापस ले लिया जाये।

तिलक ने दो आधारों पर इन कानूनों का विरोध किया। एक ओर, उन्होंने नौकरी देने वालों (नियोक्ताओं) और नौकरी पाने वाले (कर्मचारियों) के बीच स्वतंत्र अनुबंध के सिद्धांत के आधार पर अपना तर्क रखा। उन्होंने कारखानों के मालिकों के अधिकारों की तुलना भारत में अंग्रेज़ बागान-मालिकों के अधिकारों से की। अंग्रेज़ बागान-मालिक जितने मजदूर चाहे रखने को आज़ाद थे और अपनी सहूलियत के हिसाब से मेहनतनामा और काम की दूसरी शर्तें तय कर सकते थे। उन पर कोई कानूनी बंधन नहीं था। यह दोनों पक्षों के बीच स्वतंत्र अनुबंध था। तिलक यह भी चाहते थे कि सरकार कारखानों के मालिकों और उनके मज़दूरों के बीच स्वतंत्र अनुबंध में हस्तक्षेप करने से बाज आये। इसके अलावा, उनका तर्क था कि भारत में अंग्रेज़ उद्यमियों के मुकाबले भारतीय उद्यमी पहले ही घाटे की स्थिति में थे, और उन्हें गैर-बराबरी की होड़ करनी पड़ती थी।

तिलक ने यह तीखी टिप्पणी की कि देखने में तो यह अधिनियम भारतीय मज़दूरों के साथ अंग्रेज़ों की सहानुभूति की अभिव्यक्ति लगता है, लेकिन सच्चाई यह थी कि इससे अंग्रेज़ों का नवज़ात भारतीय उद्योग का गला घोंटने की इच्छा प्रकट होती है।

बहरहाल, मज़े की बात यह है कि तिलक ने अंग्रेज़ों के स्वामित्व वाली कंपनियों के खिलाफ भारतीय मज़दूरों की मांग का ही समर्थन किया। मिसाल के तौर पर, 1987 में, तिलक और उनके सहयोगियों ने ब्रिटिश इंडियन रेलवेज़ के मज़दूरों की मांगों को जोरदार ढंग से सामने रखा और उन मांगों को न मानने के लिये इसकी आलोचना की।

ऊपर लिखी बातों से यह लगता है कि तिलक ने अंग्रेज़ी कंपनियों के खिलाफ तो मज़दूरी का समर्थन किया, लेकिन भारतीय शोषकों के खिलाफ उनकी उचित मांगों का समर्थन करने से इंकार कर दिया।

वर्ष 1897 में, सरकार ने एक विधान बनाया जिसका उद्देश्य कोंकण क्षेत्र में ज़मींदारी प्रथा को नियंत्रित करना था। कोंकण क्षेत्र में, जमींदार, जिन्हें खोट कहा जाता था, बहुत अधिक शोषण करने वाले हो गये थे और इस अधिनियम के जरिये खोटों और उनके किरायेदार किसानों के बीच संबंध को नियंत्रित किया जाना था।

तिलक जो कि खुद एक खोट थे, इस प्रस्तावित विधान से नाराज़ हो गये, और उन्होंने इसकी आलोचना करते हुए केसरी में एक लेख माला लिखी। इस मुद्दे पर उनका तर्क यह था कि कोंकण में खोट किरायेदार संबंध सदियों पुरानी परंपराओं द्वारा निर्धारित थे। उन्होंने तर्क दिया कि सरकार का अधिकार माल-गुज़ारी की मांग तक ही सीमित था। उसे सीमा नहीं तोड़नी चाहिये और मज़दूरों के मेहनतनामे और सेवा-शर्तों को निश्चित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। तिलक ने इस ओर इशारा किया कि सरकार चाय बागानों

के मामले में ऐसा नहीं कर रही थी और, इसलिये उसे खोट-किरायेदार संबंध में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक के अनुसार भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी में गिरावट के क्या कारण थे?

.....
.....
.....
.....

2) कारखाना विधान के विरोध में तिलक का क्या तर्क था?

.....
.....
.....
.....

8.5 तिलक के राजनीतिक विचार

तिलक के चिंतन का मुख्य क्षेत्र राजनीति था। उनका मुख्य योगदान इसी क्षेत्र में मिलता है। कांग्रेस में नये किस्म के राजनीतिक सोच और व्यवहार का श्रेय तिलक और उनके सहयोगियों लाजपत राय और बिपिन चंद्र पाल को जाता है। उन्होंने अपने समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रकृति और राष्ट्रीय आंदोलनों के उद्देश्यों पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण किया। इनका यह मानना था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन कांग्रेस में बदलना आवश्यक है। इसे सही तौर पर राष्ट्रीय और जनवादी बताते हुए इसके पुराने व्यवहार के तरीके छोड़ने थे। इसे और भी गतिशील हो कर अपने उद्देश्यों के लिये लड़ना था। अब हम उनके कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारों पर चर्चा करेंगे।

8.5.1 तिलक के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद

तिलक का चिंतन मानसिक अय्याशी नहीं था और वह सिद्धांत रूप में कोई राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं थे। वह एक व्यावहारिक राजनीतिक थे और उनका मुख्य काम भारत को राजनीतिक मुक्ति दिलाना था।

तिलक के राजनीतिक दर्शन की जड़ें भारतीय परंपरा में थीं, लेकिन ऐसा भी नहीं था कि उसमें किसी भी पश्चिमी सिद्धांत के लिये कोई जगह ही न हो। उनकी प्रेरणा के स्रोत भारत के प्राचीन आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रंथ थे। इस तरह, उन्होंने स्वराज की अपनी धारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ दिया। उनकी दृष्टि में, स्वराज एक कानून और व्यवस्था की स्थिति भर नहीं था। यह एक सुखद जीवन की, ऐशो-आराम की चीजें उपलब्ध कराने या जीवन की आवश्यकताएं उपलब्ध कराने वाली व्यवस्था से भी बढ़ कर था। उनके अनुसार, स्वराज पूर्ण स्वशासन था—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक। इस तरह, स्वराज मात्र स्वशासन से भी बढ़कर कुछ और था: स्वशासन का तो मतलब होता था बिना अंग्रेजों से संपर्क तोड़े स्वशासन की एक राजनीतिक व्यवस्था। लेकिन स्वराज इससे भी आगे की स्थिति थी, उसमें व्यक्तियों का प्रबुद्ध आत्म-नियंत्रण भी आ जाता था, जिससे उन्हें निर्लिप्त या तटस्थ भाव से अपने कर्म करने की प्रेरणा मिले।

तिलक को लगता था कि भौतिकवाद मानव जीवन को नीचे गिराता है और वह मात्र पशु स्तर का रह जाता है।

तिलक चाहते थे कि लोग आत्मानुशासन और आत्म-प्रयासों के बल पर पाशविक आनंद के स्तर से ऊपर उठें और अपनी इच्छाओं को दबाकर सच्चा आनंद प्राप्त करें। इसलिये, मानव जीवन परिपूर्णता की जो उनकी धारणा थी उसमें केवल अधिकारों का भोगना ही नहीं था, बल्कि निःस्वार्थ भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन करना भी शामिल था। मनुष्य की अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये अधिकारों की आवश्यकता, मात्र पाशविक इच्छाओं की स्वार्थपूर्ण पूर्ति के लिये नहीं होती। मनुष्य के उसके अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने नातेदारों के प्रति और अपने सह-जीवियों और देशवासियों के प्रति भी कर्त्तव्य होते हैं। उसे इन सबके नैतिक, आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण के लिये काम करना होता है। यही उसका कर्त्तव्य है। फिर भी, यह सब तभी संभव हो सकता है जब स्त्री-पुरुष हर किस्म के प्रभुत्व और नियंत्रण से मुक्त हों।

इस स्वराज की प्राप्ति के लिये, तिलक संवैधानिक सरकार, कानून के राज, व्यक्तिगत आज़ादी, व्यक्ति की गरिमा आदि जैसी पश्चिम के उदारवादी संस्थानों और अवधारणाओं को स्वीकार करते थे।

इस तरह, तिलक के दर्शन में प्राचीन भारत की नैतिक मूल्य व्यवस्था और पश्चिम की उदारवादी संस्थाओं का मिश्रण था।

8.5.2 राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद का बुनियादी संबंध किसी एक जन-समूह के भीतर एकजुटता और लगाव के बोध, और एकता की भावना से होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तिलक एकजुटता और एकता की व्यक्तिनिष्ठ (आंतरिक) भावना को बढ़ावा देने और मज़बूत करने में समान भाषा, समान क्षेत्र में आवास जैसे कुछ वस्तुनिष्ठ (बाहरी) कारकों के महत्व को भी स्वीकार करते थे।

तिलक के अनुसार, एक अवाम की मुख्य तौर पर उनकी विरासत से उठने वाली एक होने और एकजुटता की भावना राष्ट्रवाद की महत्वपूर्ण शक्ति होती है। एक समान विरासत का ज्ञान और उसमें गर्व की भावना से मनोवैज्ञानिक एकता बनती है। इसी भावना को अवाम में उभारने के लिये तिलक अपने भाषणों में शिवाजी और अकबर का हवाला देते थे। इसके अलावा, उन्हें लगता था कि एकजुट राजनीतिक कार्यवाही या व्यवहार के जरिये समान हित, समान नियति की भावना बनाकर राष्ट्रवाद की भावना को मज़बूत किया जा सकता है।

एकता का मनोवैज्ञानिक बंधन कभी-कभी निष्क्रिय भी हो सकता है। ऐसे में अवाम को जागृत करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया में वास्तविक और मिथकीय, दोनों तरह के कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। तिलक का यह विश्वास था कि धर्म में क्योंकि सशक्त भावनात्मक आकर्षण होता है, इसलिये राष्ट्रवाद की सोयी हुई या निष्क्रिय भावना को जगाने के लिये उसका इस्तेमाल किया जाना चाहिये।

तिलक राष्ट्रवाद की भावना उभारने की प्रक्रिया में ऐतिहासिक और धार्मिक पर्वों, ध्वजों और नारों के ज़बरदस्त महत्व को पहचानते थे। उन्होंने इस तरह के चिन्हों का बहुत असरकारी प्रयोग किया। उनका विश्वास था कि जन-कल्याण की बात आती है, तो ये कारक आर्थिक कारकों से कहीं अधिक असरकारी होते हैं। इस तरह, तिलक ने गणपति और शिवाजी पर्वों के रूप में चिन्हों के इस्तेमाल का प्रचार किया जो बाद में ज़बरदस्त भावनात्मक आकर्षण बन गये।

8.5.3 अतिवाद : एक विचारधारा के रूप में

एक विचारधारा के रूप में अतिवाद उदारवादियों की विचारधारा से भिन्न था। इनमें से हरेक विचारधारा का आधार भी भिन्न था।

25

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

उदारवादी (नरमपंथी) इस भ्रम को पाले हुए थे कि अंग्रेज़ी राज भारत की भलाई के लिये है। उनका मानना था:

1) अंग्रेज़ों में न्याय और उचित व्यवहार की चरम भावना थी।
2) वे भारतीयों को जड़ता, पिछड़ेपन और बेतुकी परंपरा के बंधनों से छुटकारा दिलाने आये थे।
3) अंग्रेज़ी राज भारत की प्रगति की दैवीय योजना का एक अंग था, और
4) अंग्रेज़ी राज का बना रहना भारत के लिये लाभकारी था और इसलिये वे चाहते थे कि यह बना रहे।

उनकी इस मान्यताओं से जो निष्कर्ष निकले, वे ये थे:

1) अपनी मांगें मनवाने के लिए अंग्रेज़ों के विवेक की दुहाई देना काफी था। दबाव की राजनीति की कोई आवश्यकता नहीं थी। संवैधानिक तरीकों का कड़ाई से पालन हो, ऐसा भी ज़रूरी था।
2) राजनीति एक धर्मनिरपेक्ष मामला है। धर्म और राजनीति को मिलाना अवांछित और अनावश्यक है।
3) हमें अपने उद्देश्य के लिये अंग्रेज़ों की सहानुभूति जीतनी और बनायी रखनी चाहिये। इसमें हमारा अपना हित है। इसके लिये, लक्ष्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है। यह डर था कि गलत लक्ष्य और साधनों (के प्रयोग) से अंग्रेज़ हमारे बैरी हो जायेंगे और हमारे उद्देश्य को इससे नुकसान होगा। इसलिये उनका ज़ोर इस बात पर रहा कि अंग्रेज़ों को अपने वायदों के प्रति ईमानदार रहते हुए उन्हें पूरा करना चाहिये। अंग्रेज़ों ने यह ऐलान किया था कि भारत की भलाई उनके मन में थी। इस संदर्भ में, नरमपंथी केवल वही मांग रहे थे जिसे मांगने का अधिकार अंग्रेज़ी साम्राज्य के नागरिकों को था। स्वतंत्रता और स्वाधीनता के स्वाभाविक अधिकार का तर्क वे नहीं रखते थे।

उपर्युक्त की तुलना में, हम दो भागों में अतिवाद की विचारधारा का संक्षेप में अध्ययन करेंगे : क) मान्यताएं और ख) तार्किक निष्कर्ष। तिलक ने इस विचारधारा के विकास में बहुत योगदान दिया।

क) मान्यताएं : अंग्रेज़ी राज का चरित्र-चित्रण

उदारवादियों के विपरीत, अतिवादियों में अंग्रेज़ी राज के उदार या जन-उपकारी होने के बारे में या उनकी न्याय और उचित व्यवहार की भावना को लेकर कोई भ्रम नहीं था। उनके लिये, अंग्रेज़ उतने अच्छे या बुरे थे जितने कि और लोग। दूसरों की तुलना में अंग्रेज़ों को अधिक श्रेष्ठ और नेक गुणों से विभूषित करना निरर्थक था और किसी भी जगह के लोगों की तरह अंग्रेज़ भी स्वार्थ की भावना से प्रेरित थे। उन्होंने अपनी साम्राज्यवादी शक्ति का विस्तार भारत तक इसलिये किया था कि वे यहां के लोगों को गुलाम बना सकें और उनके संशाधनों का दोहन कर सकें; उनका भारतीयों को जड़ता और बेतुकी परंपरा से छुटकारा दिलाने का कोई जन-उपकारी उद्देश्य नहीं था। यह सब एक साम्राज्यवादी योजना थी और इसमें दैवीय कुछ भी नहीं था।

ख) तार्किक निष्कर्ष

उपर्युक्त मान्यताओं से जो तार्किक निष्कर्ष निकले, वे इस प्रकार थे: भौतिक लाभ का स्वार्थपूर्ण उद्देश्य क्योंकि अंग्रेज़ी राज की मुख्य प्रवृत्ति थी, इसलिये उससे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वह भारतीय मांगों और आकांक्षाओं के प्रति कोई सहानुभूति रवैया अपनायेंगे। अंग्रेज़ी सरकार ने भारत में भयंकरतम अकाल के दौरान भी इंग्लैंड को खाद्यान्न भेजना बंद नहीं किया। इससे क्या संकेत मिलता है? बस यही कि उनके विवेक की दुहाई देना व्यर्थ था। अंग्रेज़ ऐसी कोई भी चीज़ नहीं देने वाले जिससे उनके हितों को तनिक भी नुकसान पहुँचता हो। इसलिये, अपनी मांगों के समर्थन में दबाव का इस्तेमाल ज़रूरी था। लाभों के लिये भीख मांगने या विनती करने से कुछ होना जाना नहीं था।

बाल गंगाधर तिलक

इस तरह, यह नयी विचारधारा लगभग हर मायने में पुरानी विचारधारा से भिन्न थी। आइये कुछ बिंदुओं पर विचार करें।

1) संवैधानिक बनाम दबाव की राजनीति

तिलक औपनिवेशिक भारत के संदर्भ में संवैधानिक तरीके के प्रभावी होने की बात को स्वीकार नहीं करते थे। इस मामले में उनके तीन पक्षीय तर्क थे।

पहले, वह यह मानते थे कि संवैधानिक तरीका केवल एक संवैधानिक सरकार के तहत ही सार्थक था। हमारा कोई संविधान नहीं था। एक साम्राज्यवादी अफसरशाही भारत पर राज कर रही थी। अंग्रेज़ी राज के तहत हमारे पास बस एक दंड संहिता थी, संविधान नहीं था। इसलिये, हमारे संवैधानिक तरीके अपनाने का कोई सवाल ही नहीं था।

दूसरे, उनका तर्क था कि अंग्रेज़ तो क्योंकि अपने हितों का नुकसान करके कुछ भी देंगे नहीं, इसलिये हमें अपनी मांगों के समर्थन में विदेशी अफसरशाही पर दबाव डालने की ज़रूरत थी। ऐसा करने के लिये लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल करना होगा। उसके लिये उन्हें विश्वास में लेना ज़रूरी था। संवैधानिक तरीकों से कोई काम नहीं निकलता।

तीसरे, लोगों की भावनाओं को उभारने का एक तरीका यह था कि अपनी मांगों का आधार 'स्वाभाविक अधिकारों' के सिद्धांत को बनाया जाये। दूसरी ओर, संवैधानिक तरीका संविधान के तहत कानूनी अधिकारों के सिद्धांत की दुहाई देता था। तिलक को लगता था कि यह एक बेअसर और कमज़ोर रवैया था। जिसमें जन-उत्साह उभारने की क्षमता नहीं थी। उदारवादियों की याचना का आधार अंग्रेज़ों के वायदे और ब्रिटिश नागरिकों के रूप में हमारे अधिकार थे। इसके विपरीत, तिलक स्वराज की मांग एक 'स्वाभाविक अधिकार' के रूप में करते थे, अंग्रेज़ों के आश्वासनों के आधार पर नहीं।

2) लक्ष्य और साधन

उदारवादियों के अनुसार, लक्ष्यों की पवित्रता या शुद्धता उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी साधनों की पवित्रता। वे सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों आधारों पर साधन की पवित्रता को उचित ठहराते थे। सिद्धांत रूप में, वे मानते थे कि केवल नेक साधन अपनाने से अंग्रेज़ नाराज़ हो जायेंगे और हमारा काम बिगड़ जायेगा।

तिलक भी इस बात से इंकार नहीं करते थे कि साधनों की पवित्रता महत्वपूर्ण और वांछनीय है। लेकिन, वह यह भी मानते थे कि कुछ परिस्थितियों में इस नियम को तोड़ा भी जा सकता है। साधनों को परिस्थितियों के हिसाब से पर्याप्त और उपयुक्त होना चाहिये। हमें लक्ष्य को केवल इसलिये नहीं छोड़ देना चाहिये कि उसे उचित साधनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगर परिस्थितियों की मांग हो तो, हमें वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दूसरे या निम्नतर स्तर के साधनों का इस्तेमाल करने से हिचकिचाना नहीं चाहिये। अंत में इस प्रकार के साधन भी उचित ठहरेंगे। ऐसी परिस्थितियों में, हमें लक्ष्य की पवित्रता के बारे में तो दृढ़ होना चाहिये, लेकिन साधनों को लेकर कोई बखेड़ा नहीं करना चाहिये। तिलक इस सिद्धांत के समर्थन में 'गीता' और 'महाभारत' जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथों और महाकाव्यों का हवाला देते थे।

3) धर्म और राजनीति

पश्चिम की परंपरा में, उदारवादी राजनीति को एक धर्म-निरपेक्ष मामला मानतें थे और इसी रूप में इसके व्यवहार पर ज़ोर देते थे। वे धर्म को राजनीति से अलग रखते थे।

तिलक का दृष्टिकोण इस मुद्दे पर भी बिल्कुल भिन्न था। इसमें संदेह नहीं कि वह सामान्य तौर पर राजनीति को धर्म से अलग रखने की वांछनीयता को स्वीकार करते थे, लेकिन सभी परिस्थितियों में नहीं। धर्म हमेशा एक सशक्त भावनात्मक आकर्षण रहा है, और तिलक मानते थे कि इस सशक्त भावनात्मक आकर्षण का इस्तेमाल राजनीति की सेवा में, विशेष तौर पर उस समय की भारतीय परिस्थितियों में, किया जा सकता था और किया भी जाना चाहिये था।

तिलक के लिये, राष्ट्रीय आंदोलन का अंतिम लक्ष्य स्वराज था। इस आंदोलन में लोगों को शामिल करने के लिये, उन्होंने स्वराज के लक्ष्य की विवेचना धार्मिक अर्थों में की और इस

बात पर ज़ोर दिया कि स्वराज हमारी धार्मिक आवश्यकता है। वेदांत का धर्म और दर्शन प्रत्येक व्यक्ति की समान आध्यात्मिक स्थिति और नियति पर ज़ोर देता है। यह किसी भी किस्म के बंधन के विरुद्ध है और इसलिये, स्वराज न केवल राजनीतिक बल्कि स्वाभाविक और आध्यात्मिक आवश्यकता भी है।

तिलक का यह मानना था कि स्वराज प्रत्येक मनुष्य और समूह के लिये एक नैतिक और धार्मिक आवश्यकता है। अपनी नैतिक परिपूर्णता और धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये, मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त करना ज़रूरी है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना उच्चतर स्वतंत्रता असंभव है। इसलिये स्वराज हमारा धर्म है। इसे पाने की कोशिश करना हमारा कर्म-योग है।

व्यावहारिक रूप में, सामूहिक स्तर पर धार्मिक पर्वों का इस्तेमाल तिलक ने जन-उत्साह उभारने के लिये और जनसाधारण में साहस और आत्म-सम्मान की भावना बनाने के लिये किया।

8.5.4 अतिवाद : कार्यवाही का कार्यक्रम

अतिवाद दर्शन में कार्यवाही का एक निश्चित कार्यक्रम भी शामिल था। इस कार्यक्रम का लक्ष्य जन-उत्साह को उभारना और राष्ट्रीय आंदोलन में लोगों की भागेदारी को सुनिश्चित करना था। अतिवादी नेताओं का काम चार सूत्रीय था—लोगों को शिक्षित करना, उनमें आत्म-सम्मान और अपनी प्राचीन विरासत के प्रति गर्व का भाव पैदा करना, उन्हें एकता के सूत्र में बांधना, और उन्हें अपनी खोयी स्वतंत्रता या स्वराज को फिर से पाने के लिये संघर्ष करने को तैयार करना।

राष्ट्रीय शिक्षा

भारत में जो पश्चिमी पद्धति की शिक्षा लागू की गयी थी, उसका ध्येय लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना था, जिनका खून तो भारतीय हो, लेकिन जो बौद्धिकता और संस्कृति की दृष्टि से पश्चिम के अधिक निकट हो और जिनकी अटल निष्ठा अंग्रेज़ी राजगद्दी के प्रति हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसे काफी हद तक कामयाबी भी मिली थी।

स्पष्ट है राष्ट्रवादी इस शिक्षा पद्धति से असंतुष्ट थे। वे ऐसी शिक्षा चाहते थे जो लोगों में उनके अपने धर्म, संस्कृति और विरासत के प्रति सम्मान और लगाव की भावना भरे। इसलिये, उन्होंने एक अलग किस्म की शिक्षा की योजना बनायी जिसे उन्होंने "राष्ट्रीय शिक्षा" का नाम दिया।

इस योजना का लक्ष्य लोगों के मनों से निराशा और संदेह के भाव निकालकर आत्म-सम्मान का भाव भरना था। इसके लिये उनके सामने उनके अतीत की महानता की तस्वीर पेश की जानी थी। यह महसूस किया गया कि लोगों के सामने उनकी अपनी पिछली उपलब्धियों और गरिमाओं की तस्वीर पेश करके उन्हें उनकी वर्तमान पराजयवादी मानसिकता से बाहर निकाला जा सकता है। यह अपेक्षा थी कि इससे लोग उस महान भूमिका के लिये उपयुक्त बन जायेंगे, जो उन्हें भारत के गरिमामय भाग्य को आकार देने के लिये निभानी थी।

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना के तहत, स्कूलों और कॉलेजों के संचालन और प्रबंध का काम विशिष्ट रूप से भारतीयों के हाथों में देना था। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा अकेले पर्याप्त नहीं थी क्योंकि इससे एकांगी व्यक्तित्व का विकास होता था। धर्म का मानव व्यक्तित्व पर हितकर प्रभाव पड़ता है। इससे नैतिकता और साहस के गुणों का निर्माण होता है, लेकिन इसके साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष और व्यावहारिक शिक्षा की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिये।

युवाओं को आज की दुनिया में उनकी ज़िम्मेदारियां निभाने को तैयार करने के लिये यह ज़रूरी था। विदेशी भाषा के अध्ययन का बोझ युवकों की लगभग पूरी ऊर्जा को चाट जाता था। नयी योजना के तहत इस बोझ को हलका किया जाना था। नये पाठ्यक्रम में तकनीकी और औद्योगिकी शिक्षा को भी शामिल किया जाना था।

इस तरह, राष्ट्रीय शिक्षा योजना के तहत, पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञान को हमारी अपनी विरासत के सर्वोत्तम और संजोने योग्य तत्वों के ज्ञान के साथ मिश्रित किया जाना था।

बाल गंगाधर तिलक

बहिष्कार

अतिवादियों ने विदेशी शासकों पर दबाव डालने के लिये जो कार्यवाही का कार्यक्रम बनाया, उसका एक दूसरा मोर्चा "बहिष्कार" का था। तिलक ने बहिष्कार के सिद्धांत का विकास करने और लोकप्रिय बनाने की दिशा में बहुत योगदान दिया।

आर्थिक शोषण अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का एक प्रमुख उद्देश्य था। उनकी मनमानी नीतियाँ भारतीय उद्योगों, दस्तकारियों, व्यापार और वाणिज्य की पूरी तरह से बर्बादी के लिये ज़िम्मेदार थीं। भारतीय अर्थव्यवस्था उन विदेशी सामानों से गैर-बराबरी की होड़ करने के लिये बाध्य थी जिनके भारत में आने पर कोई रोक-टोक नहीं थी। अंग्रेज़ शासकों से यह अपेक्षा करना बेमानी (निरर्थक) था कि वे हमारे उद्योग और वाणिज्य की रक्षा करेंगे। इसका एकमात्र इलाज़ या स्वावलम्बन और, इस स्वावलम्बन के हथियार या माध्यम थे, "बहिष्कार" और "स्वदेशी"।

बहिष्कार का अर्थ होता था भारतीयों का विदेशी सामानों के इस्तेमाल करने का दृढ़ निश्चय। इसके अलावा, इसका अर्थ यह भी होता था कि भारतीय इस बात का दृढ़ निश्चय करें कि वे देश का प्रशासन चलाते रहने में विदेशी अफसरशाही की कोई मदद नहीं करेंगे। स्पष्ट है, यह एक नकारात्मक हथियार था। फिर भी, यह अपेक्षा थी कि इससे भारतीय राष्ट्रवाद के उद्देश्य को तीन तरह से मदद मिलेगी। पहले, यह साम्राज्यवादियों के एक प्रमुख उद्देश्य—शोषण पर प्रहार करेगा। दूसरे, इससे भारतीय जनता में यह दृढ़ निश्चय बनेगा कि वे राष्ट्र की भलाई के लिये अपने तात्कालिक हितों का बलिदान करें। इससे उनमें राष्ट्रवाद की भावना जागृत करने में मदद मिलेगी और तीसरे, इससे भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी को भारतीय जीवन और अर्थव्यवस्था में अपनी जगह फिर से पाने और राष्ट्रवाद के प्रेरक प्रभाव में तेज़ी से विकास करने में मदद मिलेगी।

स्वदेशी

बहिष्कार एक नकारात्मक हथियार था तो, स्वदेशी उसका सकारात्मक अंग। स्वदेशी आंदोलन ने लोगों को यह उपदेश दिया कि वे स्वदेशी उत्पादनों का ही इस्तेमाल करें, चाहे वे अनगढ़ और महंगे ही क्यों न हों। इसमें शिक्षित भारतीयों से भी आग्रह किया गया कि नौकरशाही में नौकरी करने का आग्रह छोड़कर उत्पादन के क्षेत्र में घुसें। स्वदेशी आंदोलन में भारतीयों को उद्योग और वाणिज्य में प्रशिक्षित करने की योजना भी शामिल थी। स्पष्ट है, स्वदेशी आंदोलन की कामयाबी बहिष्कार की कामयाबी पर निर्भर थी। लोग विदेशी सामान का बहिष्कार करने का जितना निश्चय करेंगे, उतनी ही स्वदेशी सामान की मांग बढ़ेगी।

इस तरह, स्वदेशी एक सकारात्मक कार्यक्रम था जिसका ध्येय भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी का फिर से निर्माण करके इसे खस्ता हालत से बचाना था। इसके अलावा, यह एक ऐसा सशक्त हथियार भी था जिससे देश पर प्रभुत्व के साम्राज्यवादी हितों को पंगु किया जा सकता था।

निष्क्रिय प्रतिरोध

राष्ट्रवादियों का अंतिम किंतु महत्वपूर्ण हथियार निष्क्रिय प्रतिरोध था। एक अर्थ में, यह बहिष्कार का ही विस्तार था। विदेशी उत्पादनों को इस्तेमाल न करने, और देश का प्रशासन चलाते रहने में विदेशी अफसरशाही की मदद न करने का दृढ़ निश्चय।

निष्क्रिय प्रतिरोध के तहत लोगों से एक कदम और आगे जाने का आग्रह किया गया। इसमें विदेशी अधिकारियों को कर और राजस्व न देने पर ज़ोर दिया गया। इसमें लोगों को स्वराज्य या स्वशासन के लिये प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम भी शामिल था। लोगों को यह प्रशिक्षण देने के लिये अंग्रेजी प्रशासनिक इकाइयों के समानांतर अपनी प्रशासनिक इकाइयां गठित करने का कार्यक्रम था। गांवों, तालुकों और जिलों में कचहरी, पुलिस आदि जैसी समानांतर संस्थाएं रखने की भी योजना थी।

इस तरह, निष्क्रिय प्रतिरोध एक क्रांतिकारी कार्यक्रम था। यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मौन क्रांति के बराबर था।

8.6 एक संक्षिप्त आंकलन

एक राजनीतिक नेता के रूप में तिलक विवाद और गलतफहमियों का शिकार रहे। उन्हें आमतौर पर एक अदम्य उपद्रवी, सामाजिक प्रतिक्रियावाद का समर्थक, पुरातनपंथ का दूत और एक सांप्रदायिक माना जाता है जिसका काम हिंदू-मुस्लिम तनाव भड़काना था। लेकिन सच्चाई कुछ और ही थी।

वह सामाजिक सुधारों के विरोधी नहीं थे। इसके विपरीत, वह मानव चेतना की प्रगति और ज्ञानादेय के साथ सुधारों की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। उनका विरोध जो उन ऊलजुलूल, बेलिहाज़ और एकदम किये जाने वाले बदलावों से था, जिनकी वकालत पश्चिमी प्रभाव के सुधारक करते थे।

एक ओर तिलक और उनके सहयोगियों के बीच कटु और लंबे विवाद ने, और दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बुजुर्ग उदारवादी नेताओं ने, अंततः उस संगठन को तोड़ दिया और 1907 में उसके दो टुकड़े हो गये। इससे कभी-कभी उनकी छवि एक विवादास्पद व्यक्ति की हो गयी जिसका काम संस्थाओं को तोड़ना था। लेकिन सच्चाई यह थी कि तिलक एक प्रखर राष्ट्रवादी थे और ऐसी किसी भी चीज़ को स्वीकार नहीं कर सकते थे, जो उन्हें स्वराज के अंतिम लक्ष्य से दूर ले जाये। उनके विरोधियों की उम्र या प्रतिष्ठा उन्हें खामोश नहीं कर सकती थी। वह तभी खामोश होते थे जब उनके सामने कोई आश्वस्त करने वाला तर्क रखा जाये। उन्हें उदारवादी युक्तियों को चालू रखने में क्योंकि कोई औचित्य दिखायी नहीं देता था, इसलिए वह इसके खिलाफ लड़े और वह सुनिश्चित किया गया कि कांग्रेस सही तरीके अपनाये।

तिलक के बारे में एक और व्यापक गलतफहमी यह है कि तिलक सांप्रदायिक थे और हिंदू-मुस्लिम तनावों को भड़काते थे। लेकिन सच्चाई यह है कि उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दंगों के दौरान हिंदुओं को बचाया तो, लेकिन उन्हें शांति बनाये रखने की सलाह भी दी। उन्होंने हिंदुओं को जो मदद दी उसका उद्देश्य हिंदुओं के बीच जान-माल की रक्षा करना था। अंग्रेज़ी शासकों ने इन दोनों संप्रदायों के बीच फूट डाली और मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़काया। तिलक अंग्रेज़ों की चाल का विरोध करना चाहते थे। मुसलमानों पर केवल मुसलमान होने के कारण हमला करना कभी उनकी योजना या मंशा नहीं रही।

तिलक 1907 के बाद, एक व्यापक दृष्टि वाले नेता के रूप में परिपक्व हो चुके थे। उसके बाद से उनमें भारतीय समाज के बहुधर्मीय चरित्र और राष्ट्रीय निर्माण में सांप्रदायिक सद्भाव के महत्व की ऊंच-नीच की और अच्छी समझ दिखायी दी। यह उनकी पटुता और दृढ़ प्रयासों का ही परिणाम था कि 1917 में लखनऊ समझौते के जरिये हिंदू-मुस्लिम समझौता संभव हो सका।

हालांकि, हिंदू धर्म और राष्ट्रवाद का तिलक के चिंतन से घनिष्ठ संबंध था, फिर भी उन्हें सांप्रदायिक कहना उचित नहीं होगा। वह इस बात के लिये उत्सुक थे कि हिंदू एक हो जायें, लेकिन वह यह भी चाहते थे कि यह एकता अनन्य (या, दूसरों को काट कर) न हो। भारत जैसे अनेक धर्मों वाले समाज में विभिन्न धर्मों और संप्रदायों को वैध स्थान प्राप्त था। जैसा कि हम बता चुके हैं, तिलक का दृष्टिकोण राजनीतिक मसलों के प्रति यथार्थवादी था और वह राजनीतिक लाभ के लिये धर्म के दुरुपयोग के खिलाफ थे। वह इस बात के भी खिलाफ थे कि अल्पसंख्यकों को राजनीतिक और दूसरी रियायतें दे कर उन्हें तुष्ट किया जाये, क्योंकि, ऐसी हालत में, अल्पसंख्यक हमेशा अल्पसंख्यक ही बने रहना चाहेंगे और एक समय आयेगा कि उनके पास इतनी शक्ति हो जायेगी कि वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में रुकावट डाल सकें। संप्रदायों को आपसी धार्मिक और आध्यात्मिक समझ की बुनियाद पर एकजुट होना चाहिये। भारत जैसे राष्ट्र में, जहां लोग अलग-अलग धर्मों को मानते हैं, यह सबसे महत्वपूर्ण बात है।

8.7 सारांश

तिलक (नरमपंथियों की तुलना में) एक अतिवादी थे। वह राष्ट्रीय आंदोलन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका देखते थे, लेकिन समाज को बांटने के लिये इसके दुरुपयोग के खिलाफ थे।

वह सामाजिक सुधारों के खिलाफ नहीं थे, लेकिन सुधार के उन तरीकों के खिलाफ थे जिनकी वकालत पश्चिमी प्रभाव के सुधारक करते थे। हालांकि, उनके राजनीतिक दर्शन की जड़ें भारतीय परंपराओं में थी, फिर भी वे आधुनिकीकरण के खिलाफ नहीं थे। उन्होंने भारतीय स्थिति में पश्चिम की सबसे अच्छी विचारधाराओं और संस्थाओं को अपनाया। वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सही रास्ते पर लाये और इसे मज़बूती देने के लिये उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार, स्वदेशी और निष्क्रिय प्रतिरोध के चार सूत्रीय कार्यक्रम को जनप्रिय बनाया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक स्वराज और स्वाधीनता में क्या भेद करते थे?

.....

.....

.....

.....

2) तिलक राष्ट्रीय आंदोलन में चिन्हों के इस्तेमाल को किस तरह उचित ठहराते थे?

.....

.....

.....

.....

3) "बहिष्कार" से राष्ट्रीय आंदोलन में किस तरह मदद मिलने की अपेक्षा की जाती थी?

.....

.....

.....

.....

4) राष्ट्रीय शिक्षा के लक्ष्य क्या **if?**

.....

.....

.....

.....

8.8 शब्दावली

अतिवाद : राजनीति में अति (अति वाम या अति दक्षिण) पंथी होने की स्थिति।

उदारवाद : वह राजनीतिक दर्शन जो व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक किस्म के शासन, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में क्रमिक सुधार की वकालत करता है।

हिंसात्मक राष्ट्रवाद

नरमपंथी : राजनीति में हिसक या अतिवादी तरीकों का विरोध कर संयम को स्थान देने वाला व्यक्ति।

चिरंतन या शाश्वत : हमेशा बना रहने वाला, जिसका कोई आदि-अत न हो।

8.9 उपयोगी पुस्तकें

थ्योनेर एल. शे, 1956 *"द लिगेसी ऑफ लोकमान्य : द पालिटिकल फिलासफी ऑफ बाल गंगाधर तिलक"*, (ऑक्सफोर्ड प्रेस, मुम्बई)

डी.वी. तहमनकर, 1956. *लोकमान्य तिलक : (फादर ऑफ इंडियन अनरेस्ट ऐंड मेकर ऑफ माडर्न इंडिया)* (जान मरे पब्लिशर्स, लंदन)

रिचर्ड ऐ. कैशमैन. 1975. *मिथ ऑफ लोकमान्य तिलक ऐंड मास पालिटिक्स इन महाराष्ट्र* (लंदन)

आर्नल्ड एच. बिशप (संपा.) 1983, *"थिंकर्स ऑफ इंडियन रिनैसां* (नई दिल्ली)

के पी. करुणाकरण, 1975. *इंडियन पॉलिटिक्स फ्रॉम दादाभाई नौरोजी टू गांधी* (नई दिल्ली, अध्याय 3 पृष्ठ 43–69

पैंथम और ड्यूश (संपा.), 1986 *पालिटिकल थाट इन माडर्न इंडिया,* (सेज, नई दिल्ली. अध्याय 7 पृ. 110-121)

जे.पी. सूद, 1975. *मेन करेंट्स ऑफ सोशल ऐंड पालिटिकल थाट इन इंडियन,* (मेरठ, अध्याय 14, पृ. 361-413)

वी.पी. वर्मा, 1978 *माडर्न इंडियन पालिटिकल थाट* (आगरा, अध्याय 11, पृ. 202-260)

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) तिलक एक अवैयक्तिक ईश्वर और अद्वैतवाद में विश्वास करते थे। फिर भी, वह वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा और इससे जुड़े कर्मकांड के महत्व को मानते थे। उनका मानना था कि चिन्ह आम आदमी की समझ में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, और इसलिये वह उनके लिये मूर्तिपूजा और कर्मकांड को ठहराते थे।

2) धर्म में ईश्वर और आत्मा, उनका आपसी संबंध, मानव जीवन का उद्देश्य और उसे पूरा करने के तरीके और साधन शामिल हैं। इससे सामाजिक एकता और शांति में भी मदद मिलती है। हिंदू धर्म आदर्श धर्म की इन दोनों शर्तों को पूरा करता है, इसलिये वह इसे पसंद करते थे।

बोध प्रश्न 2

1) तिलक सामाजिक बदलाव की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। मानव चेतना के विकास के साथ सामाजिक स्वरूपों में भी क्रमिक बदलाव आता है। इस तरह के बदलावों की मांग खुद समाज करता है। वह सहज रूप से इन बदलावों को स्वीकार कर लेता है। तिलक का सामाजिक बदलाव का सिद्धांत क्रांतिकारी और स्वाभाविकता पर आधारित था। वह बाहर से बनावटी तौर पर थोपे जाने वाले एकदम बदलावों से असहमत थे।

2) तिलक दो कारणों से सामाजिक सुधारों के मसले को स्थगित करना चाहते थे। पहले, इससे लोगों में फूट पड़ती थी, जबकि राष्ट्रीय उद्देश्य की मांग थी एकता। दूसरे, समाज सही समय पर स्वाभाविक रूप से बदल जाता है। इसमें जो समय लगना है, उसे कम करने का कोई भी प्रयास सामाजिक व्यवस्था को भंग करने वाला होता है।

3) तिलक विधानों के जरिये सामाजिक सुधारों के विचार का दो कारणों से विरोध करते थे। पहले, वह स्वाभाविक सुधारों में विश्वास करते थे। बनावटी ढंग से थोपे गये सुधार सामाजिक बनावट में गड़बड़ी पैदा करते हैं। दूसरे, उस समय इस तरह के मसलों पर विधान का मतलब था, हमारे सामाजिक-धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप को दावत देना, जिसने केवल समाजवाद को मज़बूत किया और एक ग़लत परंपरा डाली थी।

बोध प्रश्न 3

1) तिलक के अनुसार भारतीय उद्योग में गिरावट का बुनियादी कारण था भारत के बाज़ारों में यूरोपीय उत्पादनों का बेरोक-टोक आने के कारण उन पर लादी गयी गैर-बराबरी की होड़।

2) तिलक ने कारखाना विधान के खिलाफ दो आधारों पर तर्क दिये थे। पहले, इससे काम करने वालों और मालिकों के बीच स्वतंत्र संपर्क में हस्तक्षेप होता था। दूसरे, गैर-बराबरी की विदेशी होड़ के नीचे से भारतीय उद्योग के लिये इससे और भी मुश्किलें खड़ी होती थीं। इससे केवल यूरोपीय उद्योग को मदद मिलती थी।

बोध प्रश्न 4

1) तिलक के अनुसार स्वराज और स्वाधीनता में थोड़ी सी अलग किस्म की व्यवस्थाएं शामिल थीं। स्वराज का मतलब होता था, अंग्रेजी संपर्क को तोड़े बिना स्वराज्य या स्वशासन। स्वाधीनता का अर्थ होता था, अंग्रेज़ी संपर्क को पूरी तौर पर तोड़ कर स्वशासन।

2) राष्ट्रवाद से आशय एकता के एक मनोवैज्ञानिक बंधन से है। तिलक के अनुसार, चिन्ह इस बंधन को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरे, चिन्ह मनुष्यों को अपने स्वयं से ऊपर उठने और अपने से ऊंची और नेक राष्ट्र जैसी किसी वस्तु के साथ अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए मनोवैज्ञानिक स्तर पर तैयार करते हैं।

3) बहिष्कार का अर्थ होता था, विदेशी सामान और विदेशी प्रशासन से दूर रहना। इससे दो तरीकों से राष्ट्रीय आंदोलन में मदद देने की अपेक्षा की जाती थी। पहले, यह अंग्रेज़ी राज की बुनियाद पर प्रहार करके उसे पंगु बनायेगा। दूसरे, यह भारतीयों को बलिदान और कठिनाइयों के लिये तैयार करेगा और राष्ट्रवाद का भाव बनाने में मदद करेगा।

4) राष्ट्रीय शिक्षा के दो लक्ष्य थे: 1) लोगों के मनों में आत्म-सम्मान और हमारी अपनी विरासत के प्रति गर्व का भाव भरना, और 2) उन्हें वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञान देना।

इकाई 6 गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 गोखले के राजनीतिक जीवन का विकास
6.2.1 जीवन वृत्तांत
6.2.2 रचनात्मक प्रभाव
6.3 गोखले के राजनीतिक विचारों के स्रोत
6.4 राजनीतिक विचार
6.4.1 भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया
6.4.2 उदारवाद
6.4.3 राजनीतिक लक्ष्य और कार्यक्रम
6.5 आर्थिक और सामाजिक विचार
6.6 उपसंहार
6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों की चर्चा की गयी है। आजादी के पूर्व तमाम उदारवादी राजनीतिक विचारकों में गोखले का एक उदारवादी विचारक और उदारवादीकर्त्ता के रूप में अद्वितीय स्थान था। इस इकाई का मकसद आपको गोखले के राजनीतिक विचारों से परिचित कराना है जो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर के राजनीति विचारधारा के उदारवादी परम्परा का हिस्सा रही है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे कि:

- गोखले के राजनीतिक जीवन का विकास और रचनात्मक प्रभाव जिन्होंने उनकी राजनीतिक विचारधारा को आकार दिया,
- भारत में अंग्रेजी शासन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया के संदर्भ में उनके राजनीतिक विचार, उदारवाद का उनका सिद्धांत, राजनीति में साध्य और साधन के बारे में उनके विचार, उनका राजनीतिक कार्यक्रम और आर्थिक और सामाजिक विचार।

6.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का विकास भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में गांधी के प्रमुख राजनीतिक हस्ती के रूप में उभरने से पूर्व दो उदारवादी और उग्रवादी विचारधाराओं के रूप में जानी जाती है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे डी.ई. वाचा, फिरोजशाह मेहता और दादा भाई नौरोजी जैसे उदारवादी विचारकों का प्रभुत्व था, जिन्होंने भारत में उदारवादी राजनीतिक विचारधारा की नींव रखी। गोपाल कृष्ण गोखले अपने जमाने के एक अग्रणी उदारवादी विचारक थे। आधुनिक विचारक उस उदारवादी राजनीतिक दृष्टिकोण के हिमायती थे और सम्पूर्ण परन्तु क्रमिक सामाजिक विकास के प्रवक्ता थे। वे तिलक, अरविन्दो बी.सी. पाले, और दूसरे उग्रवादी विचारकों से गम्भीर मतभेद रखते थे। भारत में ब्रिटिश राज भारतीय सामाजिक स्थिति की समझ और सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के तरीकों को लेकर उनके उग्रवादियों से मतभेद थे। मोटे तौर पर कहा जाए तो उदारवादी भारत में ब्रिटिश शासन का स्वागत

और तारीफ करते थे और यह मानते थे कि इससे भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू होगी। वे सामाजिक और आर्थिक सुधारों पर ज्यादा जोर देते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक विकास के एक न्यूनतम स्तर को पाए बिना मात्र राजनीतिक आजादी का कोई अर्थ नहीं था। एम.जी. रानाडे के बाद गोखले प्रमुख उदारवादी चिंतक थे। जिन्होंने राजनीति के उदारवादी तरीकों में काफी योगदान दिया। एम.जी. रानाडे के आदर्श शिष्य और महात्मा गांधी के पूज्य राजनीतिक गुरु, गोखले ने रानाडे और गांधी के बीच एक महत्वपूर्ण बौद्धिक कड़ी प्रदान की। निम्न पृष्ठों में हम गोखले के राजनीतिक विचारों को भी समझने की कोशिश करेंगे।

6.2 गोखले का राजनीतिक जीवन

गोखले के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए पहले यह जरूरी है कि यह देखा जाय कि गोखले का राजनीतिक विकास कैसे हुआ। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ उनके विचारों तथा उन प्रभावों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं जिसने उसका मार्ग दर्शन किया।

6.2.1 जीवन वृत्तांत

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई 1866 में रतनगढ़ी जिले के एक छोटे से गाँव कोतलुक के एक मध्यवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ। उसके पिता कृष्णराव पहले एक क्लर्क थे किंतु बाद में पदोन्नति पाकर वे पुलिस सब इन्सपैक्टर बने। जब गोपाल राव मुश्किल से 13 वर्ष का था तब उनकी मृत्यु हो गयी। गोपाल राव के बड़े भाई गोविन्द राव ने परिवार की जिम्मेदारी कन्धों पर ली। गोपाल राव ने कोलापुर के निकट कगाल में अपनी प्राथमिक शिक्षा पाई और 1881 में हाई स्कूल पूरा किया। उन्होंने तीन विभिन्न कॉलेजों में उच्च शिक्षा ग्रहण की। ये थे कोलापुर का राजाराम कॉलेज, पूना डक्कन कॉलेज और बम्बई एलफिन्स्टन कॉलेज जहाँ से उन्होंने 1884 में स्नातक किया। एक बार उन्होंने इंजिनियर बनने की सोची किंतु अन्त में शिक्षा के उद्देश्य के लिए अपने को समर्पित करने का निर्णय लिया। पुणे में देश भक्त युवाओं के एक समूह ने 'द न्यू इंगलिश स्कूल' नाम का एक सेकेन्डरी स्कूल प्रमुख राष्ट्रवादी विष्णुशास्त्री चिपलंकर की प्रेरणा से चला रहे थे। गोपाल राव ने 'दी न्यू इंगलिश स्कूल' में एक अध्यापक की नौकरी कबूल कर ली। डेक्कन स्कूल सोसाइटी के मालिकों को उसकी ईमानदारी ने प्रभावित कर दिया और उन्होंने उसे सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना दिया। शीघ्र ही गोपाल राव की पदोन्नति एक प्राध्यापक के रूप में फरगूसन कॉलेज में हुई। यह कॉलेज 'डेक्कन एड्केशन सोसाइटी' द्वारा चलाया जाता था, तब से उन्होंने अपने जीवन के 18 साल अध्यापन में बिता दिए।

अपने अध्यापक काल के दौरान उनका परिचय एम.जी रानाडे से हुआ और तभी से उन्होंने अपनी प्रतिभा और सेवा को रानाडे के सुयोग्य निर्देशन में सार्वजनिक जीवन के लिये समर्पित कर दिया। वे सार्वजनिक सभा के सचिव बने। यह सार्वजनिक सभा एम.जी. रानाडे ने आम जनता के हितों की अभिव्यक्ति के लिए शुरू की। सभा का एक प्रभावशाली त्रैमासिक पत्र था जिसका गोपाल राव ने संपादन किया। कुछ समय तक उन्होंने सुधारक नाम की पत्रिका के अंग्रेजी प्रभाग में भी लिखा, जिसे 19वीं सदी के महाराष्ट्र के एक दिग्गज समाज सुधारक गोपाल गणेश अगारकार ने शुरू किया था।

1889 में पहली बार गोपाल राव ने भातीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्र में हिस्सा लिया और तब से वह उसकी मीटिंगों में एक नियमित वक्ता थे। 1886 में जब तिलक और उनके सहयोगियों ने सार्वजनिक सभा से खुद को अलग कर लिया और डेक्कन सभा नाम का एक नया संघ कायम किया। गोखले सभा की गतिविधियों में गहरी रुचि लेते थे। सभा की ओर से उन्हें इंग्लैंड में वेलबी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए भेजा गया जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा ब्रिटिश और भारत सरकार के बीच खर्चों के ज्यादा समान बंटवारे के तरीकों के लिए की गई थी। यह उनकी पहली इंग्लैंड यात्रा थी, उनके श्रेष्ठ कार्य ने कई उम्मीदें जगाईं।

1902 में फरगुसन कॉलेज से वे रिटायर हुये और जीवन के बाकी 13 साल उन्होंने पूर्ण रूप से राजनीतिक कार्य के लिये समर्पित किये। इस काल में वे बार-बार इम्पीरियल

लेजिस्लेटिव काउंसिल के लिये निर्वाचित हुये। जहाँ उन्होंने एक प्रमुख सांसद के रूप में अपनी पहचान बनाई। खासतौर से उनके बजट भाषण यादगार बन चुके हैं क्योंकि उनमें बहुत कुछ सकारात्मक था और साथ ही सरकारी अर्थनीति की उसमें निर्भीक आलोचना थी।

महात्मा गांधी की पहल पर गोखले दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के मामले में भी रुचि लेते थे। 1910 और 1912 में उन्होंने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में नटाल के भारतीय मजदूरों की राहत के लिए प्रस्ताव रखे। गांधीजी के आमंत्रण पर वे 1912 में दक्षिण अफ्रीका गए और वहाँ से भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1905 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आंदोलनों की मदद कोष इकट्ठा किए। गोखले की कठोर दिनचर्या आखिरकार फरवरी 1915 में उनकी असमायिक मृत्यु का कारण बनी।

6.2.2 रचनात्मक प्रभाव

राजनीतिक विचार और सिद्धांत शून्य में पैदा नहीं होते। उनका उदय एक खास सामाजिक वातावरण में होता है। एक विचारक अपने समय की उपज होता है। गोखले इसके कोई अपवाद नहीं थे। उनके विचार और सिद्धांत मुख्यत: अपने समय के अग्रणी व्यक्तियों और घटनाओं जिनसे उनका सामना हुआ, द्वारा प्रभावित थे। ब्रिटिश शिक्षण प्रणाली की उपज होने के नाते गोखले का जीवन के प्रति एक आधुनिक दृष्टिकोण अपनाना लाजिमी था, जो उनके समय के अंग्रेजी शिक्षित अभिजात वर्ग का चरित्र था। अपने छात्र जीवन में उन्होंने ब्रिटेन के "पब्लिक स्पीकर" को कंठस्थ कर लिया था, बेकन के "ऐसेज" और "दि एटवानमेंट ऑफ लर्निंग" के लेखांश दोहराते थे, फोसेट के राजनीति अर्थशास्त्र में पारंगत हो गए और बर्क की "रिफलेक्सन्स ऑन दि फ्रेंच रिव्यूलूशन" को कंठस्थ कर लिया। इन तमाम चीजों का उनके राजनीतिक विचारों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। जोन स्टुअर्ट मिल के उदारवादी विचारों ने उन पर गहरी छाप डाली और वे खास तौर से मिल के राजनीतिक सिद्धांतों से प्रेरित हुए। इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते गोखले खासतौर से आइरिश होमरूल मूवमेंट से प्रभावित थे। यूरोपीय इतिहास से सम्बद्धता, उसकी गतिशीलता और जनतांत्रिक विकास ने उनके विचारों को काफी प्रभावित किया और इससे उन्हें लगा कि पश्चिम से सीखने के लिए बहुत कुछ है।

भारतीय कार्यक्रमों में गोखले को काफी हद तक एम.जी. रानाडे ने प्रभावित किया। रानाडे के अनुयायी होने पर गोखले को हमेशा फख्र था। वे खासतौर से रानाडे के सामाजिक और राजनीतिक विचारों से प्रभावित थे। हालांकि गोखले को तिलक और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं के बलिदान के प्रति गहरी श्रद्धा थी परन्तु वे उनके राष्ट्रवादी सिद्धांतों की ओर ज्यादा आकर्षित नहीं थे, और इससे वे डी.ई. वाचा और फिरोजशाह मेहता जैसे उदारवादी विचारकों के निकट आए, जो उन पर पार्टी संगठन और तकनीक के मसलों पर काफ़ी प्रभाव डालते थे।

इंग्लैंड में समकालीन उदारवादी राजनीतिज्ञों जैसे मोरले और दूसरों का भी गोखले के राजनीतिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। ग्लैडस्टोन और मोरले के प्रति गोखले का आदरपूर्ण रवैया था और वे विश्वास करते थे कि भारत के शासन में वे न्यायोचित सिद्धांत अपनाएंगे। गोखले के राजनीतिक विचार निश्चित तौर पर उनके समय के उदारवादी लोकाचार के प्रतिनिधि थे और यह वह उदारवादिता थी, जिसने उनके सामाजिक विचारों और राजनीतिक विचारों को आकार दिया।

6.3 गोखले के राजनीतिक विचारों के स्रोत

गोखले सही मायनों में राजनीतिक चिन्तक नहीं थे। उन्होंने हॉब्स और लॉक की तरह कोई राजनीतिक ग्रंथ नहीं लिखे, न ही उन्होंने तिलक की "गीता रहस्य" और गांधी की "हिंद स्वराज्य" जैसी राजनीतिक टीकाएं लिखीं जिनसे उनके राजनीतिक सिद्धांतों का हवाला दिया जा सके किन्तु उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कई लेख लिखे जिनसे उनके राजनीतिक सोच का पता चलता है। इसी तरह महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक मसलों पर उनके कई भाषण और उनके समकालीनों के साथ उनके पत्र व्यवहार अब संकलित रचना के रूप में

उपलब्ध हैं जिनसे उनकी राजनीतिक विचारों को जाना जा सकता है। गोखले पर कई विद्वतापूर्ण किताबें हैं, जो उनके राजनीतिक विचारों के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इस प्रकार, इन स्रोतों के आधार पर हम गोखले के राजनीतिक सोच का वर्णन कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) निम्न स्थान पर उत्तर दें।

2) इकाई के अंत में दिए गए मॉडल उत्तरों के साथ अपने उत्तर मिलाएं

1) गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्र में पहली बार..... में भाग लिया।

2) जिन भारतीय हस्तियों ने गोखले को प्रभावित किया उनमें से ..... प्रमुख थे।

6.4 राजनीतिक विचार

गोखले के राजनीतिक विचार अपने समय के सामाजिक राजनीतिक मसलों के इर्द-गिर्द घूमते हैं न कि राज्य तथा राष्ट्र व संप्रभुता जैसी राजनीति की मूल अवधारणाओं के इर्द-गिर्द। इसलिए उनके राजनीतिक सिद्धांतों को समझने के लिए उस समय के बुनियादी राजनीतिक मसलों का उल्लेख करना होगा तथा उन मसलों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया को जानना होगा। ये मामले अनेकों थे, और स्वभाव से जटिल थे। इन मामलों के प्रतिक्रिया स्वरूप जो विचार उभरकर आए वे गोखले की राजनीतिक सोच की समृद्ध विविधता को दर्शाते हैं। इस पाठ में हम गोखले के राजनीतिक विचारों की चर्चा तीन मुख्य शीर्षकों के तहत करेंगे। ये शीर्षक हैं, भारत में ब्रिटिश राज के प्रति गोखले की प्रतिक्रिया उनका उदारवाद तथा उनका राजनीतिक कार्यक्रम जिसको उन्होंने तैयार किया और जिसके लिए उन्होंने काम किया।

6.4.1 भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया

अपने समय के अधिकतर उदारवादी भारतीय चिंतकों की तरह ही गोखले ने भारत में ब्रिटिश राज की प्रशंसा की और उसका स्वागत किया। उनका यह रवैया दो बातों पर आधारित था। सबसे पहली बात यह थी कि तमाम उदारवादियों की तरह गोखले मानते थे कि भारतीय समाज में ब्रिटिश राज के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। अंग्रेज कानून के समक्ष समानता के सिद्धांत को मानने वाले थे, उन्होंने प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, चाहे सीमित स्तर पर ही सही। उन्होंने प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी। ये तमाम चीजें निस्संदेह नयी थीं। इसके अलावा, अंग्रेजों ने ही भारत में राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया शुरू की। भारतीयों को उनमें से सीखने के लिए बहुत कुछ था। इसलिए गोखल का तर्क था कि हमें कुछ समय और उन्हें झेलना चाहिए और उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में प्रगति करनी चाहिए। गोखले मानते थे कि यदि ब्रिटिश राज कुछ समय और रहता है, तो भारत पूरी तरह आधुनिक हो जाएगा और फलस्वरूप यूरोप के अन्य स्वतंत्र राज्यों की तरह राष्ट्रों के समुदाय में शामिल हो जाएगा।

गोखले का मानना था कि अपनी उदार परम्परा को रखते हुए अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और भारत को उस दिन स्वशासन सौंप देंगे जिस दिन स्वयं भारतीय इस योग्य हो जाएंगे। "इंग्लैंड की भारत के प्रति प्रतिज्ञा" की अवधारणा टामस मुनरो, हेनरी लौरेंस और महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणाओं के आधार पर बनी हैं। यह इस तथ्य के बावजूद कि 1884 से रिपन के वायसराय काल के खत्म होने से लेकर 1917 के अगस्त घोषणा के बाद के तमाम वायसरायों और सचिवों ने जोर देकर भारत में ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं को

लागू करने की संभावनाओं को नकार दिया। गोखले का अभी भी विश्वास था कि अंग्रेजों के उदारवादिता की भावना को अपील करने से, उन्हें भारत की सही सामर्थ्य को शान्ति करने पर अंग्रेज अंततः मान जाएंगे और भारत में पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं को लागू करेंगे। अंग्रेजों के उदारवाद में इस आस्था के चलते गोखले भारत में अंग्रेजी राज को जारी रखने के हिमायती थे।

भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने के उनके औचित्य का मतलब यह नहीं था कि वे भारत में अंग्रेजी प्रशासन से पूर्ण रूप से संतुष्ट थे। उदाहरणस्वरूप वे कर्जन प्रशासन के मनमाने पक्ष के कटु आलोचक थे और उन्होंने कई मौकों पर कहा कि अंग्रेज यहाँ संसदीय प्रणाली को लागू करने में हिचक रहे थे, और उनका उद्देश्य यहां राज करना था न कि प्रजातंत्र स्थापित करना। फिर भी उनका विश्वास था कि अंग्रेजी राज की नियति थी कि वो भारत में अपना दैवकृत मिशन पूरा करते।

गोखले ईमानदारी से महसूस करते थे कि जहाँ तक लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास का सवाल है, भारतीय इतिहास के पास उसे देने के लिए कुछ नहीं है। जुलाई, 1911 में गोखले ने लंदन में हुई यूनिवर्सल रेस कांग्रेस में पर्चा पढ़ते हुए स्वीकार किया था कि, "भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता का राष्ट्रीय विचार पश्चिम की तरह विकसित नहीं हुआ था।" उनका मानना था कि देश की सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं को पश्चिम की तर्ज पर सुधारा जाना चाहिए। उनके अनुसार यूरोप का इतिहास लोकतांत्रिक विचारों के विकास की स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसलिए वह हमारे स्वतंत्रता और लोकतंत्र के विचारों को आकार देने के लिए काफी उपयोगी होगा। अंग्रेजों से संबंध इस मामले में जरूर मदद पहुंचाएंगे। इसलिए उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज का स्वागत किया। अपने मित्र गोखले को उन्होंने एक पत्र में लिखा, "तुम्हें मालूम होना चाहिए कि नौकरशाही की जो भी कमियां हो..... किन्तु एक अंग्रेज कितनी भी गुस्ताखी करे, आज केवल वे ही देश के विधि व्यवस्था के पक्षधर हैं और बिना किसी विधि व्यवस्था के हमारे लोगों की वास्तविक प्रगति संभव नहीं है।" इस वजह से, गोखले के अनुसार, ब्रिटिश राज भारत में सामाजिक व्यवस्था का पक्षधर था, तो प्रगति की एक पूर्व शर्त भी इसीलिए उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने को न्यायोचित ठहराया।

6.4.2 उदारवाद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गोखले मूलतः एक उदारवादी विचारक थे किन्तु उनका उदारवाद 18वीं और 19वीं सदी के यूरोपीय उदारवाद से थोड़ा भिन्न था। गोखले के उदारवाद की विशिष्टता को समझने के लिए जरूरी है कि हम उदारवादी विचारधारा से परिचित हो लें। एक विचारधारा के रूप में, व्यक्ति और समाज की जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। स्वतंत्रता उदारतावाद का एक प्रमुख सिद्धांत है और यह जीवन के किसी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के रचनात्मक हस्तक्षेप की मुखालिफ़त करता है। सामाजिक क्षेत्र में उदारवाद धर्मनिरपेक्षता का पक्षधर है। यह धार्मिक कट्टरता की बेड़ियों से व्यक्ति की आजादी का हिमायती है, और यह आस्था की स्वतंत्रता में विश्वास रखता है। आर्थिक क्षेत्र में यह स्वतंत्र व्यापार का हिमायती है और इसके अलावा, आन्तरिक उत्पादन की स्वतंत्रता और बाह्य निर्यात का हामी है। यह निर्यात में स्वतंत्र प्रतियोगिता का पक्षधर है। यह स्वतंत्र प्रतियोगिता का हिमायती है जिसका अर्थ है कि माल के आयात और निर्यात पर कोई रोक नहीं रहे। इस कारण यह प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और आर्थिक लाभों को कुछ लोगों के हाथ में वितरित करने के हिमायतीं है। राजनीति के क्षेत्र में उदारवादी इस बात पर जोर देते हैं कि यह राजनीतिक स्वतत्रता की पूर्व शर्त है, मोटे तौर पर गोखले राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में इन सभी मान्यताओं में विश्वास करते थे। इसलिए उन्हें उदारवादी कहा जा सकता है। लेकिन उदारवाद के क्लासिकी अर्थशास्त्र से उनका मतभेद था। और राज्य का सिर्फ देश के आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि औद्योगिक विकास व व्यापार को बढ़ाने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका चाहते थे।

उदारवादी होने के नाते गोखले व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्व देते थे। लेकिन उनके लिए स्वतंत्रता का मतलब किसी अंकुश का न होना नहीं था। इसके विपरीत उनका मानना था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी दी जा सकती है जब व्यक्ति आत्म नियंत्रण और संगठन में रहें, वो जानते थे कि स्वतंत्रता तब तक नहीं दी जा सकती है जब तक नागरिकों को स्वतंत्रता के कुछ अधिकार नहीं दिए जाएं। उनके विचार में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रेस की स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता पाने के लिए जरूरी था। इसलिये उन्होंने 1904

ऑफिशियल सीक्रेट बिल का विरोध किया। क्योंकि वह यह मानते थे कि इससे सरकार को प्रेस को नियंत्रित करने के ज्यादा अधिकार मिल जाएंगे।

गोखले व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और समझौते के हिमायती थे। भू-राजस्व संहिता संशोधन विधेयक पर टिप्पणी करते हुए गोखले ने कहा कि आम नागरिक अपनी जो के मालिकाना अधिकार से इतनी गहराई से जुड़ी है ..... कि वह इन अधिकारों पर किसी प्रत्यक्ष और परोक्ष हमले का विरोध करने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा, यह समझना मुश्किल नहीं है कि इससे जमीन ले लेने का प्रस्ताव अपने अधिकारों का अतिक्रमण लगेगा। इस प्रकार गोखले ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, और समझौते की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया जो कि उदारवादी सिद्धांत का मूल सार है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आवश्यक नागरिक अधिकारों को कायम रखने के लिए गोखले ने देश में प्रतिनिधि संस्थानों को स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। उनके अनुसार ब्रिटेन और भारत के बीच सम्बन्ध सुधारने की पहली शर्त यह होगी कि ''इंग्लैंड भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास को आगे बढ़ाने तथा उस नीति पर कायम रहने की स्पष्ट घोषणा करें। हालांकि गोखले ने सार्वभौमिक मताधिकार की माँग नहीं की। उन्होंने मताधिकार के लिए सम्पत्ति की योग्यता का प्रस्ताव रखा। उदाहरण के लिए ग्राम पंचायत के चुनाव में मतदान के बारे में गोखले ने कहा कि केवल वे ही लोग मतदान करें जो न्यूनतम भू-राजस्व देते थे।

गोखले ने हितों के प्रतिनिधित्व के साथ विधायिका में जनता के प्रतिनिधित्व को वरीयता दी। अपनी अंतिम वसीयत में उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्येक प्रान्त की विधायिका परिषद के सदस्य 75 से 100 तक होने चाहिए। बम्बई का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि विधानसभा में एक-एक सीट करांची अहमदाबाद मिल के मालिकों और दक्कन के सरदारों के लिए होनी चाहिए। उन्होंने धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का सुझाव दिया। हिंदुओं और मुसलमानों के साम्प्रदायिक भेदभाव को जानते हुए गोखले ने मुसलमानों के लिए अन्य प्रतिनिधित्व की बात कही। इस तरह गोखले ने उदारवादी होने के नाते क्रान्तिकारी स्वतंत्रता का समर्थन किया और दूसरी तरफ प्रतिनिधि संस्थानों की स्थापना का भी समर्थन किया।

गोखले का राज्य की भूमिका के बारे में विचार क्लासिकल उदारवाद से काफी अलग थी। क्लासिकल उदारवाद एक मुक्त राज्य की बात करता है। क्लासिकल उदारवाद राज्य को सिर्फ मुख्य व्यवस्था की इजाजत देता है। उनका मानना है कि जो सरकार सबसे कम राज करती वह सबसे अच्छी है। लेकिन गोखले न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे के पदचिन्हों पर चलते हुए देश की आर्थिक और सामाजिक जीवन में राजकीय हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं। यहाँ गोखले के विचार जे.एस. मिल के विचार से बिल्कुल अलग हैं। गोखले के विचार थे कि सरकार न केवल वितरण प्रणाली में बल्कि उत्पादन की प्रणाली में भी हस्तक्षेप करें। गोखले के अनुसार सरकार का कार्य जनता का नैतिक और न्यायोचित हितों को बढ़ाना है। इन बातों को हासिल करने के लिए सरकार विकास के अस्वाभाविक प्रतिबन्धों को अनदेखा नहीं कर सकती है। गोखले के अनुसार सरकार को विकास की गति को तेज करने के लिए इन अस्वभाविक प्रतिबन्धों को दूर करना चाहिए। गोखले ने कहा कि भारतीयों को ऐसी सरकार की जरूरत है जिसके सामने जन कल्याण के अलावा सब चीजें गौण हो जाए और जो भारतीयों को विदेशों में अपमानित किए जाने का विरोध करें और हर उपलब्ध तरीके से भारत और विदेशों में रह रहे भारतीयों के नैतिक और भौतिक हितों को बढ़ाने की कोशिश करे। इस प्रकार, गोखले के अनसार राज्य सिर्फ पलिस राज्य नहीं है बल्कि जब-जब जरूरत हो यह देश की आर्थिक जिन्दगी में हस्तक्षेप करे और जन कल्याण की गतिविधियों की शुरुआत करे। हम इस तरह कह सकते हैं कि गोखले के उदारवाद की प्रेरणा मिल का उदारवाद था लेकिन यह क्लासिकल उदारवाद से दो चीजों में अलग है। एक तरफ यह अतिक्रान्तिवाद को बढ़ावा नहीं देता है और दूसरी तरफ राज्य का देश की आर्थिक और सामाजिक जिन्दगी में हस्तक्षेप की बात करता है।

6.4.3 राजनीतिक लक्ष्य और कार्यक्रम

भारत में ब्रिटिश राज के बारे में गोखले की समझदारी उनके राजनीतिक लक्ष्यों और कार्यक्रमों को तय करने में एक कारण थे। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि गोखले यह मानते थे कि अंग्रेज लम्बे समय में भारत की मदद करेंगे। इसलिए ऐसे किसी विचार से

उन्हें नफरत थी जिसमें इन सम्बन्धों को तोड़ने की बात कही जाती हो। इसलिए जो राजनीतिक लक्ष्य वे सामने लाए वे भारत का अपना शासन था। पहले के कांग्रेसी नेता अच्छी सरकार के विचार से संतुष्ट थे इसका मतलब यह सक्षम और समझदार सरकार थी, लेकिन दादा भाई नौरोजी की तरह गोखले यह समझने लगे कि अपनी सरकार के बिना अच्छी सरकार संभव नहीं है। इसके अलावा, वह मानते थे कि अंग्रेजों ने समाज में कानून और व्यवस्था कायम कर के अच्छी सरकार दी लेकिन, अब समय आ गया है कि भारतीय सरकार के काम से जुड़ें और यह तब ही संभव था जब अंग्रेज भारत को अपना शासन करने की इजाजत दें। 1905 में कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि अब इन सब में परिवर्तन होना चाहिए और सबसे पहले भारत को भारतीयों के हित में चलना चाहिए। यह लक्ष्य हम उसी अनुपात में हासिल कर पाएंगे जितनी ज्यादा आवाजें देश की सरकार के लिए उठेंगी।

इस प्रकार गोखले ने केवल "अच्छी सरकार" पर जोर देने के बजाय भारत के लिए एक कदम आगे बढ़कर स्व-शासन की माँग की। किन्तु, स्व-शासन का क्या अर्थ है? गोखले की स्व-शासन की अवधारणा उग्रवादी चिंतक अरविन्द और विपिन चन्द्र पाल से अलग थी। स्व-शासन से उनका अभिप्राय भारत के लिए पूर्ण आजादी नहीं था। वे केवल ब्रिटिश साम्राज्य में स्व-शासित उपनिवेशों का दर्जा चाहते थे। लेकिन उग्रवादी जैसे अरविन्द भारत के लिए पूर्ण आजादी चाहते थे। जिसका कि ब्रिटेन से कोई सम्बन्ध न हो। गोखले स्व-शासन की माँग करते हुए उतने दूर तक नहीं गये, न ही गोखले ने तिलक की भांति स्व-शासन के लिए स्वराज शब्द को बेतहर समझा तिलक के स्वराज्य की अवधारणा का व्याप्त अर्थ था, जोकि पूर्ण आजादी पाने पर ही हासिल किया जा सकता था। गोखले ने पूर्ण आजादी का संकेत कभी नहीं दिया। तिलक के लिए वह जनता का जन्मसिद्ध अधिकार था जिसके लिए कोई दूसरी विशेष शर्त की जरूरत नहीं थी। दूसरी ओर गोखले मानते थे कि जनता को प्रतिनिधि संस्थाओं को चलाने के लिए अपने आप को तैयार करना चाहिए। उन्होंने सोचा कि पश्चिम के राजनीतिक संस्थाओं की उपयोगिता पूर्वी लोगों द्वारा व्यावहारिक शिक्षण और प्रयोग द्वारा की जा सकती है। गोखले यह मानते थे कि भारतीयों द्वारा यह राजनीतिक प्रशिक्षण और प्रयोग अंग्रेजों से सम्बन्ध बना कर किया जा सकता है। स्व-शासन के लक्ष्य को तय कर लेने के बाद गोखले ने एक ऐसा राजनीतिक कार्यक्रम बनाया जिससे इसको पाया जा सके। उनके राजनीतिक कार्यक्रम में बहुत से परिवर्तन शामिल थे। इन परिवर्तनों को चार भागों में बांटा जा सकता है।

1) वह परिवर्तन जो प्रशासन और उनके कार्यों में ज्यादातर भारतीयों को शामिल कर सके। इनमें विधान परिषद का सुधार, भारतीयों को राज्य परिषद के सचिव के रूप में नियुक्ति और भारतीय कार्यकारी परिषद की नियुक्ति और देश में सार्वजनिक सेवा में यूरोपीय एजेंसीयों में भारतीयों की ज्यादा भागीदारी की बात कही गई।

2) वह सुझाव जिसमें प्रशासन में सुधार की बात कही गयी है जैसे न्यायिक प्रणाली को कार्यकारी कार्यों से अलग करना और पुलिस सुधार।

3) वह सुझाव जिसमें वित्तीय प्रबन्धों के फेर बदल जिससे कर देने वालों पर कम बोझ पड़े और उपलब्ध संसाधनों का सक्षम उपयोग किया जा सके। इससे अन्तर्गत सैनिक खर्चों में कमी, और भूमि आंकलन को संतुलित करना आदि।

4) वह कार्य जिनसे जनता की स्थिति सुधरे, इसमें प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, औद्योगिक और तकनीकी निर्देश, सफाई के लिए अनुदान और किसानों पर बढ़ते कर्ज को दूर करने का वास्तविक प्रयास हो। गोखले यह मानते थे कि यदि भारतीय ऐसी चीजों पर अपने को केन्द्रित करें तो कुछ समय के अन्दर ही परिणाम आएगा जो निराशाजनक नहीं होगा। 1956 की बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने आशा व्यक्त की कि जब से कांग्रेस के आंदोलन में ब्रिटेन की क्रान्तिकारी उदारवादी पार्टी ने इंग्लैंड में शुरू किया तब इंग्लैंड में आक्रामक साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मजबूत धारा उत्पन्न हुई। इस आशा ने गोखले को कांग्रेस में प्रस्तावित कार्यक्रम पर बढ़ने को प्रोत्साहित किया।

अपने राजनीतिक लक्ष्य व कार्यक्रम को हासिल करने के लिए गोखले ने जिस राजनीतिक तरीके की वकालत की वे मूलतः संवैधानिक थे। उनके अनुसार केवल संवैधानिक आंदोलन ही हमारे राजनीतिक आकांक्षाओं को प्राप्त करने का मार्ग हो सकता है। गोखले के मुताबिक संवैधानिक आंदोलन का अर्थ था–प्रार्थनाएं और याचिकाएं। हालांकि गोखले ने अन्तिम रास्ते के तौर पर निष्क्रिय प्रतिरोध की

19वीं शताब्दी भारत में सामाजिक-राजनीतिक सुधार

संभावना से इंकार नहीं किया। बम्बई टाउन हॉल में 9 सितम्बर, 1909 में हुई सभा में गोखले ने कहा''.....ट्रान्सवाल की परिस्थिति में जिस तरह का निष्क्रिय प्रतिरोध को गांधी जी ने संगठित किया, वह न केवल वैधानिक है बल्कि, यह तमाम आत्म स्वाभिमानी लोगों का कर्त्तव्य है। यह निष्क्रिय विरोध क्या है? एक अन्यायी कानून या रचनात्मक तरीके और उस कानून को स्वीकृति या दण्ड सहने का तरीका और सहने को तैयार रहना निष्क्रिय प्रतिरोध है। इसे विकास भी कहा जा सकता है। यदि हम सिद्धांत व ईमानदारी से महसूस करते हैं कि कानून न्यायसंगत नहीं है और उसे ठीक करने की कोई सूरत नहीं है तो मैं समझता हूँ कि इसे मानने से इन्कार करना ही उन लोगों के लिए रास्ता बच जाता है जो भौतिक और तत्कालिक लाभों के ऊपर अपनी ईमानदारी और आत्मसम्मान को रखते हैं।'' हालाँकि गोखले का निष्क्रिय प्रतिरोध उग्रवादियों से अलग था। जहाँ उग्रवादी नेता जैसे अरविन्द और तिलक ने निष्क्रिय प्रतिरोध को आक्रमण का तरीका बताया वहीं गोखले इसे रक्षा का एक तरीका बताते थे। इसके अलावा गोखले का निष्क्रिय प्रतिरोध के विचार में विद्रोह या विदेशी हमले का साथ देना नहीं था। अन्त में गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध की हिमायत एक अंतिम अस्त्र के रूप में करने की बात की जिस समय के बाकी सब तरीके असफल हो चुके हों। निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन नैतिक, आध्यात्मिक, और बिना किसी प्रतिरोध के होना चाहिए। इस तरह हम कह सकते हैं कि गोखले निष्क्रिय प्रतिरोध में विश्वास करते थे लेकिन वह तरीका भारत में नहीं अपनाना चाहते थे क्योंकि वह मानते थे कि भारत में चल रही स्व-सरकार के आंदोलन में हजारों संवैधानिक तरीके बाकी हैं। उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारत में निष्क्रिय प्रतिरोध का आंदोलन नहीं चलाया जा सकता है क्योंकि यह लोगों में लोकप्रिय नहीं था। इसलिए गोखले, तिलक के राजनीतिक तरीकों का विरोध करते थे। संयम गोखले की राजनीति का आदर्श वाक्य था और वे इससे कभी नहीं हटे। दूसरी उग्रदवादी नेताओं के विपरीत गोखले जन आंदोलन की बजाए संवैधानिक तरीके पर ज्यादा विश्वास करते थे। वे अंग्रेजों को भारतीयों की समस्याओं से अवगत करना चाहते थे न कि जन आंदोलन से दवाब डालना। यह उनके उदारता को प्रकाश में लाता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) निम्न स्थान पर उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में अपने उत्तरों को जाँच लें।

1) गोखले के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता किस प्रकार उपयोगी हो सकती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) गोखले ने राज्य की भूमिका को किस तरह देखा?

.....

.....

.....

.....

6.5 आर्थिक और सामाजिक विचार

जैसे कि हम पहले देख चुके हैं गोखले के आर्थिक और सामाजिक विचार उनकी राजनीतिव सोच का अंग थी। वह सही मायने में एक अर्थशास्त्री नहीं थे न ही एक सामाजिक चिंतक थे, जिनके पास समाजशास्त्रीय दृष्टि हो। हालांकि कांग्रेस का नेता होने के नाते और विधान

सभा का सदस्य होने के नाते गोखले से उस समय के कई सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर सोचना पड़ता था, जिसने उनके आर्थिक और सामाजिक विचारों को जन्म दिया। ये विचार उनके सोचने के तरीके को दर्शाते हैं जिसमें उस समय की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को काफी हद तक प्रभावित किया।

जहाँ तक गोखले के आर्थिक विचारों का सवाल है, वे न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे और जर्मन अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट के विचारों से प्रभावित था। रानाडे और लिस्ट दोनों के विचार क्लासिकी अर्थशास्त्र एवं स्मिथ और रिकार्डों से काफी भिन्न थे। रानाडे ने तर्क दिया कि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक परिकल्पना विज्ञान है। और उसकी स्थापनाएँ यूक्लिड के समान स्वयंसिद्ध सत्य पर आधारित नहीं है इसलिए सभी जगह सभी समय लागू नहीं होते। इसलिए यदि कोई आर्थिक नीति इंग्लैंड के लिए सही है तो कोई जरूरी नहीं वह भारत के लिए भी सही हो। इसी बात पर आधारित रानाडे ने भारत में मुक्त व्यापार नीति का विरोध किया जो कि क्लासिकल अंग्रेजी अर्थशास्त्रों द्वारा कहा गया। रानाडे ने तर्क दिया कि भारत को मुक्त व्यापार नीति नहीं बल्कि संरक्षण की नीति की जरूरत है। रानाडे ने देखा कि जर्मनी में राज्य की पहल के कारण ही जर्मनी प्रथम श्रेणी की आधुनिक ताकत में तब्दील हुआ। इसलिए उन्होंने तर्क दिया कि राज्य को औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में बढ़ाने के लिए पहल करनी चाहिए। प्रो. लिस्ट के समान रानाडे का विचार था कि देश की व्यापार नीति आर्थिक नीति से जुड़ी है इसलिए उन्होंने महसूस किया कि सरकार को निजी प्रयासों को प्रोत्साहन देना चाहिए तब तक कि निजी उद्योग धन्धे अपने आप को चला सकें। इसे निजी पूँजीपतियों को काम ऋण पर कर्ज देना चाहिए और उन्हें निवेश और जगह चुनने में मदद करनी चाहिए। रानाडे के अनुसार भारत की सबसे गम्भीर समस्या गरीबी है और यह तब तक दूर नहीं की जा सकती जब तक औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू न हो। ब्रिटिश राज द्वारा चलायी गयी मुक्त व्यापार नीति और मुक्त प्रतियोगिता भारत के औद्योगीकरण के विकास के लिए अनुकूल नहीं है इसलिए रानाडे ने देश के आर्थिक क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा हस्तक्षेप का समर्थन किया।

गोखले ने 1875 से 1908 तक भारतीय वित्त की गहन अध्ययन किया और इसे चार भागों में बाँट कर खर्च में वृद्धि की तुलना निम्न है।

राजस्व और खर्च में औसत वार्षिक वृद्धि

काल	राजस्व में वृद्धि	खर्च में वृद्धि
1874-84	1.25%	0.67%
1884-94	1.5 %	1.5 %
1894-1901	1.5 %	1.5 %
1901-1909.	2.5 %	5.0 %

(संदर्भ : भारत में 1840-1914 में आर्थिक विचारों का विकास गोपाल कृष्ण पी.के., 1959)

अपने अध्ययन से गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला कि खर्च में वृद्धि आय में वृद्धि से ज्यादा है जब कि दोनों में संतुलन जरूरी है। इसलिए अतिरिक्त बजट का कोई मतलब नहीं बनता जबकि आम आदमी का बजट असंतुलित है। अतिरिक्त बजट के काल में गोखले ने राज्य के लिए निम्नलिखित कदमों की सिफारिश की :

1) राज्य द्वारा जमीन पर 25 से 30 प्रतिशत माँग की कमी।
2) 10 लाख स्टर्लिंग के एक फंड की स्थापना जिससे भारतीय कृषकों को कर्ज के दबाव से बचाया जा सके।
3) मिश्र की पद्धति के अनुसार कृषक बैंकों की स्थापना जिससे सहकारी ऋण संघों को चालित किया जा सके।
4) औद्योगिकीकरण और तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा और इस कार्य के लिए ज्यादा धन आवंटित करना।
5) मुक्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा।
6) स्थानीय निकायों की वित्तीय अवस्था को सुधारना।

उपरोक्त प्रस्तावों से जाहिर होता है कि गोखले का मानना था कि अतिरिक्त बजट का कोई अर्थ नहीं है जब तक आम आदमी का बजट संतुलित न हो। यदि अतिरिक्त बजट हो भी तो इसे राज्य के विकास कार्यों को बढ़ाने में खर्च किया जाना चाहिए।

19वीं शताब्दी भारत में सामाजिक-राजनीतिक सुधार

गोखले को भारत के कृषि जीवन के विषय में भी जानकारी थी। उन्होंने पाया कि भारत का कृषि उद्योग अवनति पर है और प्रति एकड़ उपज काफी कम है। ऐसी स्थिति में उन्होंने साफ कहा है कि भू-राजस्व और अप्रत्यक्ष कर गरीबों पर असहनीय बोझ बन जाते हैं। वे चाहते थे कि राज्य कृषि की समृद्धि के लिए सिंचाई और वैज्ञानिक पद्धति पर ध्यान दे। उन्होंने सूती कपड़ों पर चुंगी का विरोध किया क्योंकि उनके विचार से यह आयात पर लगे कर को प्रति संतुलित करने के लिए है। गोखले के विचार से ऐसा कर गरीबों पर दबाव को बढ़ाता है।

जर्मनी अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट का अनुसरण करते हुए गोखले ने भारत में नए उद्योगों को संरक्षण देने की बात कही क्योंकि भारत औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ होता है और वहाँ सार्वजनिक प्रतियोगिता शुरू हो जाती है इन देशों के साथ जो भाप और मशीन का इस्तेमाल होता है तो वैसी स्थिति में सबसे पहले स्थानीय उद्योग वहाँ खत्म हो जाते हैं और देश एक बार फिर खेती पर आधारित हो जाता है तब, राज्य की भूमिका आती है। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब राज्य की संरक्षण की न्यायोचित व्यवस्था का विकास करना चाहिए और वैसे उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए जिससे की नवीन तरीकों का इस्तेमाल वह उद्योग कर सके और सारी दुनिया की प्रतियोगिता को झेल सके। मैं जोर देकर कहना चाहूंगा कि भारत की सरकार को इस सुझाव सूची का अनुसरण करना चाहिए। संक्षेप में गोखले ने औद्योगिक विकास की हिमायत की, औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए राज्य की वकालत की, नए उद्योगों के संरक्षण की माँग की और इस तरह उन्होंने पूँजीवाद के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

गोखले सरकार की अर्थनीति की आलोचना पर ही नहीं रूके बल्कि, उन्होंने स्वदेशी मकसद की भी हिमायत की। हालांकि वे स्वदेशी को बहिष्कार से नहीं जोड़ते थे। उनके अनुसार स्वदेशी आंदोलन देशभक्त और आर्थिक आंदोलन दोनों ही था। जहाँ तक देश भक्तों के पहलू का सवाल है, यह मातृभूमि की श्रद्धा से जुड़ा था किन्तु, इस आंदोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक था। इसने उन वस्तुओं के उपभोग की गारंटी दी, जो देश में उत्पादित होते थे और देशी वस्तुओं की माँग को बनाए रखने में स्थायी उत्प्रेरक का काम किया। गोखले के अनुसार उत्पादन का सवाल पूँजी, उद्यम और कुशलता का सवाल था। और जो कोई भी इन क्षेत्रों में किसी एक क्षेत्र में मदद पहुंचाए उसे स्वदेशी मकसद के लिए एक कार्यकर्त्ता कहा जा सकता है। गोखले ने स्वदेशी मकसद में सरकारी सहयोग लेने में झिझक नहीं दिखाई। स्वदेशी आंदोलन के जरिए गोखले ने देशी पूँजीवाद के विकास की नींव डालने की कोशिश की है।

सामाजिक सुधारों के मामले में गोखले ने रानाडे का पक्ष लिया। रानाडे की तरह ही गोखले का भी मानना था कि सामाजिक सुधारों के साथ राजनीतिक सुधार भी होने चाहिए। 1890 की शुरुआत में रानाडे ने कुछ सुधारों की हिमायत की जैसे कि 1) एक साल की आय से ज्यादा खर्च पुत्र या पुत्री के विवाह समारोह में नहीं किया जाना चाहिए, 2) लड़कों की शादी 16, 18 या 20 से पहले तथा लड़कियों की शादी 10, 12 या 14 से पहले नहीं होनी चाहिए, 3) बहुपति प्रथा पर प्रतिबंध लगना चाहिए, 4) 60 के बाद किसी को शादी नहीं करनी चाहिए, 5) महिलाओं की शिक्षा के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। कमोबेश रानाडे का मानना था कि इन सुधारों को धीरे-धीरे लागू करना चाहिए और सामाजिक परिवर्तन के लिए विधायकी प्रक्रिया द्वारा जहाँ कहीं जरूरी हो, राज्य का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु, रानाडे मोटे तौर पर मानते थे कि "लोकप्रिय पहल" सामाजिक परिवर्तन के लिए मददगार होगी न कि थोपे गए कानून। हालांकि यह ध्यान रखने वाली बात है कि तिलक की तरह रानाडे सामाजिक परिवर्तन के लिए राज्य की हस्तक्षेप के पूरी तरह खिलाफ नहीं थे। गोखले न इस मामले में रानाडे का अनुसरण किया। उनका मत था कि राज्य को समाज के प्रगतिशील तत्वों की मदद करनी चाहिए। इस प्रकार, उन्होंने सिविल मैरिज बिल के प्रस्ताव का समर्थन किया। प्रभावशाली प्रबुद्ध अल्पसंख्यक की मदद से गोखले चाहते थे कि राज्य सामाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाए।

गोखले ने जनता के लिए मुक्त और जरूरी प्रारम्भिक शिक्षा का सुझाव दिया। गोखले प्रारंभिक शिक्षा को सिर्फ पढ़ने और लिखने की क्षमता तक ही सीमित नहीं मानते थे। इसका अर्थ था, व्यक्ति की अधिक नैतिक और आर्थिक सक्षमता और उसी के कारण मुक्त व अनिवार्य शिक्षा के लिए उन्होंने कठोर प्रयास किए। उन्होंने शराब पर प्रतिबंध लगाने की बात की जिससे व्यक्तित्व के विकास के मार्ग की बाधाओं और कठिनाइयों को दूर किया जा सके।

गोखले के बताए गए सुधारों में उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों में उदारवादी आस्थाओं को आसानी से देखा जा सकता है। उदारवाद व्यक्ति के सम्मान को बहुत महत्व देता है। हालांकि यह सम्मान तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि व्यक्ति चेतन और शिक्षित न हो। इसी उद्देश्य से उदारवाद में आस्था रखने वाले गोखले मानव जीवन के इस पहलू को सबसे ज्यादा महत्व देते हैं। जैसे व्यक्तित्व का विकास। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में जातिगत बंधन, नस्लवाद, सांप्रदायिक दुर्भाव, अज्ञानता, धार्मिक कठमुल्लावाद, नारी दमन जैसी बाधाएं हैं और इन्हें तुरंत दूर किया जाना चाहिए। इस प्रकार, गोखले का सामाजिक सुधारवाद उनके उदारवादी दृष्टिकोण की उपज थी। उनके राजनीति के आध्यात्मिकरण के विचार व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण, तथा ज्ञानोदेश की पूर्व मान्यता थी जो कि उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम से स्पष्ट झलकता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे के रिक्त स्थानों में अपने उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) गोखले ने स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से .... की नींव डालनी चाही।

2) ..... और .... ने गोखले के विचारों को प्रभावित किया।

6.6 सारांश

हमने गोपाल कृष्ण गोखले के मुख्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारों को देर अब हम उनके चिन्तन का सारांश देखेंगे।

गोखले एक नरमपंथी और उदारवादी राजनीतिक विचारक थे। उनके राजनीतिक विचार बेंथम, मिल और रानाडे जैसे उदारवादी विचारकों से मुख्य रूप से प्रभावित थे। जहाँ तक उनकी राजनीतिक मान्यताओं का प्रश्न है, उनका विश्वास था कि–

1) भारत की राजनीतिक प्रगति को कानून और व्यवस्था पर आधारित होना चाहिए,
2) उनका राजनीतिक लक्ष्य था औपनिवेशिक स्वशासन, और
3) उनके लिए इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र रास्ता संवैधानिक आंदोलन था।

वे एक उदारवादी विचारक थे परन्तु क्लासिकी उदारवादी विचारकों से कुछ मायनों में भिन्न थे, खासतौर से राज्य की भूमिका और लेसेस-फेयर (मुक्त व्यापार) की नीतियों पर विचारों के संबंध में।

गोखले एक प्रबल समाज सुधारक थे। उन्होंने कुछ सामाजिक परिवर्तनों के लिए विधेयकों की वकालत की। सामाजिक पवितर्न के प्रति उनका रुख निश्चित रूप से मानवतावादी और उदार था। एक खास पंथ और विश्वास के रूप में धर्म ने उनके विचार में ज्यादा महत्व नहीं पाया हालांकि उन्होंने राजनीति के आध्यात्मिकरण पर जोर दिया। यह नैतिकता, धर्मनिरपेक्षता पर आधारित थी और यह किसी भी तरह के धार्मिक कट्टरतावाद की ओर इंगित नहीं करती थी। इस तरह इस क्षेत्र में वे महात्मा गांधी के पूर्वगामी थे। तिलक और गांधी की तरह गोखले एक जन नेता नहीं थे इसके विपरीत उनका मत था कि थोड़े से प्रबुद्ध, शिक्षितों को समाज और जनता का सही दिशा में नेतृत्व करना चाहिए। इसी कारण उन्होंने मुख्य सामाजिक, आर्थिक मसलों पर शिक्षित लोगों के सचेत होने पर अधिक जोर दिया बजाय इसके जनता को राजनीतिक रूप से लाभबंद करने के।

संक्षेप में, राजनीति के क्षेत्र में गोखले ने संविधानवाद की नींव डाली। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उन्होंने पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया और सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में उन्होंने जाति, नस्ल, धर्म, भाषा और वर्ग को भेदभाव किए बगैर व्यक्ति के सम्मान को बढ़ाने का कठिन प्रयास किया। इस प्रकार, हर अर्थ में भारतीय समाज का आधुनिकीकरण करने वाले थे।

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.आर. नन्दा–गोखले, दिल्ली, 1977

कार्वे डी.जी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी., **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड** 2 पॉलिटिकल (बम्बई, एशिया प्लानिंग हाउस, 1986)

कार्वे डी.जी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी. **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड3**, एडूयूकेशनल, (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1967)

पटवर्धन् आर.पी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी. **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड 1**–इकनॉमिक्स, (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962)

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 1809

2) एम.जी. रानाडे

बोध प्रश्न 2

1) गोखले के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ कोई बंदिश का न होना नहीं है। स्वतंत्रता उपयोगी तब ही हो सकती है जब व्यक्ति आत्मसंयम और आत्मसंगठन से व्यवहार करें।

2) गोखले ने देश के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप की बात कही। इस तरह, उन्होंने जो कार्य राज्य को सौंपा वह क्लासिकल उदारवाद द्वारा राज्य को सौंपे गए कार्यों से भिन्न था।

बोध प्रश्न 3

1) **देशी पूँजीवाद**

2) **न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे और प्रो. लिस्ट**

References:

https://epgp.inflibnet.ac.in

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/69149

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/27879

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/27808

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/70298

https://epgp.inflibnet.ac.in

https://epgp.inflibnet.ac.in

https://epgp.inflibnet.ac.in

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/68699

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/68702

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/68707

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/30615

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/69127

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/69128

http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/49317

source https://hi.wikipedia.org/wiki…..